

एक बूंद जल

लक्ष्मीनारायण ताल

एक शब्द

एक अर्थ

•

मानवीय प्रकृति की तमाम सहज, अविद्वत कामनाओं को मैं मनुष्य मात्र की सुन्दर कामनाओं की कोटि में रखता हूँ। साथ ही तमाम सुन्दर कामनाओं को मैं मनुष्य की सहज, स्वाभाविक और प्रकृत आवश्यकताओं का फल मानता हूँ।

यह है मेरी कहानी का शब्द।

मैं, मेरा जीवन, यह पूरा समाज किन्हीं ऐतिहासिक शक्तियों की मझदार से गुजर रहा है : और हर क्षण ठीक उसी तरह पास होता जा रहा है, जैसे कि गंगा-जमुना का पानी, उसका अथाह जल !

और मैं अनुभव करता हूँ कि मैं अपनी हर नयी रचना के साथ थोड़ा टूटता हूँ और उससे अधिक पूर्ण होता हूँ। और दोनों की सह अनुभूति से मुझे लगता है कि मैं अपनी रचना के साथ एक ऐसे जीवन की ओर बढ़ता हूँ, जो मुझे अभी तक अज्ञात था।

यही है मेरा अर्थ।

मेरी कहानी।

और यह मेरी हर नयी कहानी मुझे जीवन की ही तरह कृतज्ञ करती है, और साथ ही धायल।

तुलाराम बाग,
इलाहाबाद

लक्ष्मीनारायण लाल

विश्वम्भर मानव को

अनुक्रम

सरजू तट का पपीहा	: ६
हेमन्त ऋतु	: ३६
रेलगाड़ी	: ५४
विन्दो भाभी	: ७२
दर्पन कथा	: ८४
मछली रे तू सूखती क्यों नहीं	: ९७
प्रेम पत्र	: ११५
राम जानकी रोड	: १३०
एक बूँद जल	: १४७

एक बूंद जल
तथा
अन्य कहानियाँ

सरजू तट का पपीहा

उस पार टाँडा शहर। तहसील टाँडा—जिला फैजाबाद। इस पार कलवारी घाट। बीच में जय सरजू मइया! तट पर जो यह गाँव दीख पड़ रहा है—मुरादपुर जिसका नाम है, इसमें एक नेउर बाबा थे। वे कहते थे, “ये मोर भइया! सुना। आठो घरी जगना तब सरजू तट पै रहना।”

“ई कैसे नेउर बाबा?”

यह प्रश्न सुनते ही नेउर बाबा, साधू-संत आदमी अपना चिमटा फेंक कर मारते, चाहे ठाँव लगे चाहे कुठाँव। “ससुर कै नाती, चला हइन सवाल करे! ससुर तू नाहीं.....”

इधर सरजू का घाट, कलवारी। पर यह कलवारी तो सरजू के तट से पक्के दो कोस दूर है। सरजू, फिर उतना लम्बा माझा, भाऊ के जंगल से पटा हुआ। रेत ही रेत। फिर नीम-बबूल के पेड़। फिर मिलती है कलवारी वाली पक्की सड़क, जो सीधे उत्तर की ओर जिला बस्ती पहुँचती है। यह पहले की बात है।

किन्तु उन्नीस सौ बत्तीस की वह प्रलयकारी बाढ़, जिसमें कि पूरा जिला बस्ती डूबते-डूबते बचा, नेउर बाबा बताते थे कि लोग आठ-

आठ दिन तक आम, पीपल, बरगद, नीम, पाकड़ के पेड़न पर पड़ा रहिन। उसी पेड़ पर साँप, विप्रकोपड़ा, बिल्ली, गोह, भुजंग और उसी पर बाल-बच्चन सहित आदमी। पर मजाल क्या कि कहीं कोई आदमी मरा हो, हाँ जानवरों की बात और है। वाह-वाह! वह अंगरेज बहादुर का जमाना था।

तभी से इधर सरजू दो धारा में बहने लगी। एक असली धारा। एक सोती। कभी असली धारा टाँडा की ओर, तो सोती कलवारी सड़क की ओर। कभी धारा इधर, तो सोती टाँडा की ओर। सरजू मइया की महिमा!

सरजू को काट गजब! पानी है कि तलवार की धार! जमीन में धार की रगड़ लगी नहीं कि बड़ा से बड़ा कगार मिनट भर में अररा रा धम्म....SS धम्म SS!

जय सरजू मइया की!

गंगा माई की महिमा! जो सरजू नदी मुरादपुर गाँव से कभी डेढ़ कोस की दूरी पर बहती थी, आज परपाजे के जमाने से वह अब मुरादपुर गाँव के टीले से रगड़ कर बहती हैं। बीस हाथ ऊँचे टीले को आध-आध काट कर अब वहाँ सरजू नदी लहराती हैं। सरजू की धारा न सही तो सरजू की सोती ही सही। पर जब सावन चढ़ता है, तब सब एकापट हो जाता है कि नहीं। एक सिरे पर मुरादपुर का यह आधा कटा टीला और उस पार वह दीख पड़ रहा है वह टाँडा शहर। वह है हाजी साहब का मकबरा। वह दीख पड़ रही है रमजान सेठ की कोठी! यह उन्नीस सौ पैंतीस की बाढ़ की करामात है। नेउर बाबा कहा करते थे, “बड़े भाग से सरजू मइया गाँव के पास आयीं।” पर दूसरे ही क्षण वह कह पड़ते थे, “मुला मइया, सरजू तट का रहना, आठो पहर जगना।”

“ई कैसे नेउर बाबा?”

“ससुर तू नाहीं! मरबू ऊ चिमटा कि.....”

मुरादपुर गाँव के पिछवारे लाला की अमराई, पचास पेड़ आम का चक्र। उसके अन्त में ही वह आधा कटा टीला, जो अब सरजू मइया का अडार कहलाता है।

सरजू के उस ऊँचे अडार पर पहली बार पपीहा बोल गया तो समझो जेठ माह का मृगडाह नक्षत्र लग गया। पपीहे की यह बोल सबसे पहले लाला की बखरी में सुनायी पड़ती है। सरजू तट से चल कर लाला की अमराई को बेधती हुई कानूनगो साहब की बखरी में। लाला की वह बखरी पूरे गाँव जवार में अद्वितीय। ईंटे की दीवार, उस पर सिरमिट का पलस्तर और चूनाकारी। अंग्रेजी खपड़े से छायी हुई। लाला रामचन्द्र श्रीवास्तव अंग्रेजी जमाने के पहले कानूनगो थे। यह बखरी कानूनगो साहब ने बड़े शौक से बनवायी थी। यह बात उन्नीस सौ दस की है।

कानूनगो साहब के केवल पुत्र रघुवीर मइया, जिन्हें कानूनगो साहब डिप्टी कलक्टर देखना चाहते थे। पर रघुवीर मइया थे कि अंग्रेजी की दसवीं कक्षा पास ही नहीं कर पा रहे थे। एक दिन कानूनगो साहब ने रघुवीर मइया से कहा कि रघुवीर, तुझे मेरे नाम की भी शर्म नहीं? तू समझता है मेरे रुपये केवल फूँकने के लिए हैं। रघुवीर मइया बड़े ही संवेदनशील थे, पिता की यह बात उनके दिल में तीर की तरह लग गयी। और एक दिन जब कानूनगो साहब ने सुना कि बेटे ने कलक्टरी दफतर में नौकरी कर ली, तब वे बहुत दुखी हुए। तब नेउर बाबा ने कानूनगो साहब को समझाया था, “ये साहेब सुनीं—पुरुष बली नहीं होत है, समय होत बलवान, भीलन लूटी गोपिका, वही अर्जुन वही बान।”

“ठीक कहते हो नेउर!”

कानूनगो साहब चुप रह गये थे। किन्तु रघुवीर की शादी कानूनगो साहब ने बहुत पहले तै कर रखी थी। वाँसी के कायस्थ राजा अस्तभुजा-प्रसाद के दीवान की इकलौती लड़की गुलाब बेटी से।

सो शादी तो कानूनगो साहब ने अपने नाम-यश-प्रताप से कर दी, पर उन्होंने रघुवीर भइया से साफ कहा कि देखो रघुवीर, तुम्हारा गौना लेकिन तभी होगा, जब तुम कम-से-कम कलक्टर के पेशकार बनो।

नेउर बाबा बताते थे कि उसी साल के भीतर ही, माघ का महीना था, संध्या समय कानूनगो साहब बरामदे में अलाव के किनारे बैठे फर्सी पी रहे थे और महाभारत की कथा कहते जा रहे थे उसी समय उन्हें एक हिचकी आयी और वह इस संसार से मुक्त! वाह रे धर्मात्मा पुरुष!

अगले साल ही रघुवीर भइया ने सरजू तट की अमराई को टाँडे के एक महाजन के हाथ तीन सौ रुपये में बेच दिया। वही तीन सौ रुपये ऊपर घूस दे कर रघुवीर ने पेशकारी हासिल कर ली। कलक्टर की नहीं कलक्टर से भी बड़े उस समय राशनिंग और सप्लाय अफसर मिश्रा जी के पेशकार। फिर क्या था, रघुवीर भइया पूरे जिले में सर-नाम। एक-एक दिन में सौ सवा सौ रुपये की हाथ खुली आमदनी। साल भीतर ही रघुवीर भइया मालोमाल। गर्मी में वह खालिस कीमती रेशम पहनते, जाड़ों में सर्ज से नीचे बात नहीं।

तभी अगले साल गौना हुआ रघुवीर भइया का...नेउर बाबा बताते थे कि जैसा गौना उस समय रघुवीर भइया का हुआ, वैसा जशन आज तक किसी की शादी में भी न हुआ। एक रंडी बनारस की, एक लखनऊ की। मशहूर भाँड़ तवक्कल हुसेन की पार्टी अमीना-बाद से आयी थी। बाँसी राजा साहब के दीवान मुँह खोले देखते रह गये। कहाँ उन्हें चिन्ता थी कि कानूनगो साहब के न रहने से वह गौना कैसे होगा, वहाँ वह रघुवीर भइया की शाहखर्ची और शान-शौकत देख कर दंग रह गये।

सो रघुवीर भइया का गौना हुआ। चढ़त अषाढ़। आद्रा नक्षत्र का पहला पानी खूब बरसा था। सरजू नदी बढ़ने लगी थी। मुरादपुर में आम की फसल आयी थी। गुलाब बहू के संग बाँसी से एक नाउन

आयी थी, दूल्हन की ही मुहबोली सखी। गजब्या नाम था उसका। अलमस्त जवान। आँख नचा कर बोलती थी और बात-बात में अंग-ड़ाई लेती थी। रघुवीर भइया ने गजब्या को रास्ते में ही फोड़ लिया था। कई बार भइया ने उसका हाथ मसक दिया था। पर क्या जवानी थी उसकी, जैसे कोई काम-मूरत हो, अपराजेय जीवंत। गजब्या से भी वीस वह गुलाब बहू। घूँघट के नीचे जैसे पूर्णमासी का चाँद उग रहा हो। पान खाये हुए ओठ। काजल में डूबी हुई रतनारी आँखें। जैसे मलयागिर चन्दन की मूर्ति हो कोई—जग-जग करती हुई।

उस दिन भी वर्षा हुई थी। पके आम की सुगंधि से सारा गाँव महमह कर रहा था। बैरिन पुरवैइया। घर में नाते-रिश्तेदार टिके थे। भीतर दोनों बुआ आयी थीं। धानपुर की मौसी भी। उनकी छोटी-बड़ी लड़कियाँ थीं। संध्या समय सरजू तट पर मौरी और वन्दनवार विसर्जन करने सारी स्त्रियाँ गयीं हुई थीं। रघुवीर भइया अपनी दुल्हन के बगल वाले कमरे में खड़े कपड़े पहन रहे थे। सारे कमरे में इत्र की खुशबू। तभी रघुवीर भइया ने सुना—

गजब्या ने हँसते हुए पूछा, “देखा न सखी, सखा दूल्हा खूब मन के हैं न?”

गुलाब दुल्हन ने उत्तर दिया, “हाँ, अच्छे ही हैं। साँवले ज्यादा हैं।”

“पर मन चलाक कितने हैं वह सखी! बड़े गजब के हैं मुरहा। मुझे तो रास्ते भर छेड़ा। कभी इधर छू लेते, कभी उधर चिकोटी काट लेते! हाय रे राम, मैं तो तंग हो गयी तुम्हारे गोइयाँ से!”

“चुप रह रे!”

गुलाब बहू की वह घुड़की कमरे को बेधती हुई रघुवीर भइया के सामने आ खड़ी हुई। पर गजब्या तो गजब्या ही थी, उसने फिर छेड़-खानी की, “सखी, ओ सखी, काले-गोरे से क्या होता है!” और वह गजब्या शरारत से गा उठी :

करिया-करिया मत कर गोरिया

कि करिया श्री भगवान !

हाय गोइयाँ, करिया श्रीभगवान....

हाय राम करिया श्री भगवान....

मोर सखी करिया श्री भगवान....

धिन् तानी नानी नानी

धिन् तानी नानी नानी !

मस्त गजबवा गाती-गाती कोई बर्तन बजाने लगा थी। तभी गुलाब बहू ने उसके हाथ को गुस्से से भिड़क दिया था। और वह बजता हुआ बर्तन भनभना कर फर्श पर लुढ़क गया था। मगर गजबवा पर इसका असर थोड़े ही कुछ पड़ा। वह 'हाय राम !' कह कर बोली, "हाय-हाय ! क्या गजब की आँख हैं सखा की ! दसों उँगलियों में अँगूठी। मुँह में मगही पान। दोनों हाथों में नोट ही नोट। राजा हैं राजा....छल्ला दे-दे निशानी, तरी मेहरबानी !" गजबवा फिर गा उठी थी, पर तभी गुलाब बहू ने उसके मुँह पर एक चपत मार दी थी, "बड़े राजा की बात करने चली है ! सप्लाई-राशनिंग के पेशकार और वह सब घूस-बेईमानी की कमाई। इनके पिता कानूनगो साहब के नाम पर तो मेरी शादी हुई है कि....मेरी यह शादी पहले से न तै होती तो मेरे पिता जी यह शादी थोड़े ही करते !"

सुहागरात से एक दिन पहले की वह करुण शाम ! रघुवीर भइया ने अपनी गुलाब दुल्हन के मुँह से ये बातें अपने ही कानों सुनीं। गले में पड़ी सोने की पतली जंजीर को उन्होंने हाथ से खींच कर तोड़ डाला और तेजी से वह कमरे से बाहर निकल गये।

अगले दिन आयी सुहागरात। उस रात अष्ठमी का चन्द्रमा उगा था। पुरवैइया मादक थी। रघुवीर भइया की उदासी गजबवा ने सुबह ही पकड़ ली थी। उसने गत संध्या को बगल के कमरे से सखा को उस

तरह जाते हुए देख लिया था। सो वह गजबवा आज दोपहर ही चुपके से सखा से मिली थी और निश्चल दोस्त की तरह उनके उदास शिथिल कंधों पर हाथ रख कर उसने कहा था, "सुनो हो गोइयाँ ! रूठो नहीं ! गजब की सखी है मेरी ! देखोगे तो मुझे भूल जाओगे ! मैं तो सखी के पैर की धोवन भी नहीं हूँ ! हाँ, थोड़ी बात की कड़ी है सो क्या, दिल तो प्यारा है ! कड़ी बात तो रूप का घमंड है—मेरी सखी का घमंड नहीं। मेरी सखी तो सोलहो आने सोना है। न भूठ बोलना जाने, न आज तक किसी को मेरी सखी ने आँख ही उठा के देखा है। भूल जाओ। मुस्करा दो न ! आज रात तुम्हें वह मिलेगा जो किसी को नहीं मिला है—राम कसम। विसवास करो न...." रघुवीर भइया प्रसन्न। भक्ति से उनका कंठ सराबोर। वह दिन डूबने से पहले सरजू के तट पर गये थे और हाथ जोड़ कर उन्होंने गंगा भइया से कुछ कहा था।

सुहागरात को रघुवीर भइया दुल्हन को देख कर मंत्र-मुग्ध ! जैसे वह कोई स्वप्न देख रहे हों ! इतना रूप ! शरीर की इतनी महिमा ! ओ हो ! गजबवो सच ही कह रही थी। पलंग पर बैठते-बैठते रघुवीर भइया ने कहा, "आज की रात, पहले तुम मुझसे माँगो ! फिर मैं माँगूंगा...."

"माँगू !"

"हाँ, माँगो !"

"पर आज की रात मुँह खोल कर माँगना ठीक नहीं है। तुम खुद जो दे दोगे, समझो वही मैंने माँगना था।"

"सच ?"

"हाँ सच !"

रघुवीर भइया ने भक्ति स्वर में कहा, जैसे कि अपने अन्तर्मन में उन्होंने आज सरजू तट पर कहा था, "सुनो, मैं अब से कभी किसी से घूस नहीं लूँगा !"

“और ?”

“भूठ नहीं बोलूँगा।”

“और ?” गुलाब बहू स्वामिनी की तरह समर्पित पुरुष से माँगती जा रही थी और बगल के कमरे से गजब्या की वह दबी हुई प्यारी हँसी रघुवीर भइया के कानों में अमृत रस घोल रही थी।

“और ?”

“तुम्हारे आगे संसार में मेरे लिए और कोई औरत नहीं।”

बगल के कमरे से गजब्या की हँसी फूट रही थी और वह निर्मल-स्वस्थ हँसी सुहागरात के इस कमरे में दबे पाँव आकर रघुवीर भइया को गुदगुदा रही थी। उसी बीच गुलाब बहू के मुख से निकला, “कौन भरोसा, जिसकी जो आदत हो जाती है, वह बहुत मुश्किल से छूटती है।...मेरी शादी के लिए तो कितने बड़े-बड़े लोग....”

“चुप रहो गुलाब बहू।”

अपने अन्तर्मन से चीख कर रघुवीर भइया पलंग के नीचे खड़े हो गये। बगल के कमरे से शिशुवत् उठती हुई हँसी सहसा काँप कर टूट गयी। उसी तरह, उसी क्षण जैसे रघुवीर के हाथों में भूलती हुई चमेली और मोतियों के वे दोनों हार अपने-आप टूट कर फर्श पर बिखर गये थे।

“यह क्या कर डाला सखी तुमने ?” गजब्या गुलाब बहू के कंधे झकझोरती हुई पूछ रही थी, “हाय ! यह क्या कर डाला ? कहाँ सुहागरात, कहाँ यह सन्नाटा ! आज ही की रात तुम्हें ये बातें करनी थीं ?”

गजब्या, सखी के उदास सूखे हुए करुण मुख को निहार कर रो पड़ी। गुलाब बहू ने गंभीरता से कहा, जैसे शान्त रजनी में धीमा कोई अकम्प दीपक जल रहा हो, “कोई बात नहीं, मैं अपने सतीत्व से उन्हें दूर नहीं जाने दूँगी। वह मेरे पास आयेंगे !” यह हैं गुलाब बहू ! तबसे अपनी उसी बखरी में अपने उसी विश्वास की अग्नि में बैठी हुई। तब

से आज अठारह वर्ष बीत गये।

तो सरजू तट से पपीहे की वह पहली आवाज सीधे लाला की बखरी में पहुँचती है। उस बखरी में एकनिष्ठ बैठी है राजा के दीवान की बेटी, कानूनगो साहब की पतोहू और रघुवीर भइया की धर्मपत्नी वही गुलाब बहू। उस उन्नीस-बीस वर्ष से चल कर उनकी अवस्था अब तो चालीस वर्ष की छू रही होगी। पर उन्हें देखने से आज भी लगता है जैसे बाहर आँगन में माध-पूस की रात में कोई धी का दियना जल रहा हो। वही गोरा-चिन्टा शरीर, अब कृशकाय। पर मुख पर वही तेज—उड़ती हुई वही बड़ी-बड़ी आँखें ! माथे पर दहकता हुआ सुहाग का टीका। भरी कलाइयों में मंगल चूड़ियाँ। पैरों में महावर। गहरी माँग सदा सिंदूर से भरी हुई।

गाँव-गद्दी, लोग-बाग, नाते-रिश्तेदार, दोस्त-अहवाब आज तक न जान पाये कि किस दिन दोनों पति-पत्नी में क्या ऐसी बात हो गयी कि दोनों के मन को इस तरह वनवास दे दिया गया। न तो उस बात की चर्चा आज तक जीवन में कभी किसी से रघुवीर भइया ने की, न इस गुलाब बहू ने। बस, दोनों हंस जुदा हो गये, लोगों ने यही देखा। इतना ही नतीजा हुआ।

रघुवीर भइया बस्ती में—मिनसन रोड पर एक मकान किराये पर लेकर रहते हैं। और गुलाब बहू इतनी बड़ी बखरी में यहाँ मुरादपुर गाँव में रहती हैं। आधे से ज्यादा खेत तो धीरे-धीरे रघुवीर भइया ने बेच दिये हैं, फिर भी अभी तीस बीघे खेत हैं। सारे खेत अधिया पर उठा दिये गये हैं। सरजू तट की खेती, दोनों फसलों में काफी अन्न खाने-पीने भर को बखरी में आ जाता है। बखरी के दरवाजे पर पक्का कुआँ है। दायीं ओर जहाँ बैलों की घारी बनी थी, वहाँ इस घर का एक नौकर रहता है। खुद अपने हाथ से अपना खाना बनाता है, बखरी के भीतर-बाहर का काम-काज करता है।

दरवाजे पर विशुद्ध मालिक की तरह एक प्राणी और रहते हैं—रिश्ते में लगते हुए एक अजिया ससुर। गाँव के बच्चे जिन्हें खों-खों बाबा कहते हैं—बखरी के बरामदे में बोरसों की आग जलाये। हरदम हुक्का पीते हुए।

और भीतर वही गुलाब बहू, योगिनी की तरह मन की अग्नि-परीक्षा में बैठी हुई। विश्वास और टेक की समाधि मारे। भीतर गुलाब बहू के साथ एक गुँगी नौकरानी है, करीब-करीब बहू की उमर की। पर वह शादीशुदा है। उसका पति अहमदाबाद की मिल में नौकरी करता है। वह हर दूसरे साल नौकरी से एक महीने की छुट्टी लेकर आता है। तब यह गुँगी नौकरानी, जिसका नाम मुनक्का है, बखरी से एक महीना की छुट्टी लेकर पास ही अपने गाँव में चली जाती है। इसके दो लड़कियाँ हैं। दोनों का ब्याह होकर वे अपने-अपने घर हैं। एक लड़का भी है, जो अपने मामा के यहाँ आठवीं दर्जा में पढ़ रहा है।

इस बखरी के भीतर के चूल्हे पर बना हुआ भोजन स्वादहीन होता है। इसका अनुभव करीब-करीब सबको है। इसीलिए दरवाजे का वह नौकर अपना खाना खुद बनाता है। यहाँ तक कि बूढ़े खों-खों बाबा भी अपना एक वक्त का भोजन बाहर बोरसी में ही बनाते हैं।

क्या करें बेचारे, भीतर चौंके का भोजन सच, एक दम रसहीन होता है। यह शिकायत इस बखरी के भीतर बैठकर हर भोजन करने वाले को है।

बस्ती शहर के मिनसन रोड वाले उस किराये के मकान में, यहाँ इस बखरी के मालिक रघुवीर भइया रहते हैं—वहाँ भी भइया के संग अब केवल दो ही प्राणी रहते हैं—एक वही लजाधुर, मामा का लड़का, और दूसरी वही रुमाली साँवले रंग की युवती—बीस बाइस साल की। लजाधुर जिसे भाभी कहते हुए लजाता है। इतनी ही उमर तो लजाधुर

की भी है। यह आठ वर्ष की अवस्था से रघुवीर के साथ है। चाहे लजाधुर को रघुवीर भइया का प्राइवेट सेक्रेटरी कहो, चाहे सहोदर भाई, चाहे पुत्र, चाहे दोस्त। पर यह सच है कि लजाधुर के बिना रघुवीर भइया एक क्षण भी नहीं रह सकते। तभी लजाधुर आठ दर्जा से आगे नहीं पढ़ सका। और आज लजाधुर जब इक्कीस-बाइस साल का हुआ और जब रघुवीर भइया का मन अब उतना काम-धाम में नहीं लगता तो रघुवीर भइया अजीब भारी स्वर में कहते, “सुनो हो लजाधुर, अगर आज तुम्हें हम हाई स्कूल पास कराये दिहे होइत तो अब तक कहीं तुम....”

इतना कहते-कहते रघुवीर भइया चुपचाप आसमान की ओर देखने लगते हैं। जैसे आसमान में कहीं लिखा हो—आदमी का जीवन कितना बेबस और अनुत्पन्न है। उस आसमान की सूक्ष्म लिखावट पढ़ते-पढ़ते रघुवीर भइया के हृदय में वह सुहागरात कौंध उठती है। जैसे वह घटना अभी कल ही घटी हो। और गुलाब बहू का वह चेहरा याद आते-आते ही कलेजे से आग की लपटें निकलने लगती हैं। अब भी। हाँ, इतने प्रतिशोध के बाद भी। एक तो अपनी स्त्री द्वारा ही अपमान। फिर उस अपमान की इतनी ग्लानि—जो केवल जला कर खाक कर देना चाहती है। जो आग कभी बुझना नहीं चाहती। शायद चिता पर भी नहीं।

उधर दूसरी ओर गुलाब बहू के कलेजे में पश्चाताप की अग्नि जली है। उस आग में घी का काम करता है आत्मविश्वास। अपने सतीत्व की शक्ति पर निष्ठा। इन दोनों दहकते आग के अंगारों को इस संसार में अकेला लजाधुर जानता है। रघुवीर भइया और गुलाब-भाभी दोनों के दिलों को वह जानता है। केवल दिल ही नहीं; अरे, उन दिलों के भीतर बैठे दर्द को भी। पर लजाधुर तो लजाधुर ही है। दोनों में किसी से भी लाज के मारे वह नहीं बोल पाता। बस, वह

सिर्फ मुस्कराकर लजा जाता है।

लजाधुर बस्ती से मुरादपुर गाँव आया है। उसने गुलाब भाभी का चरण छूकर प्रणाम किया है। फिर भाभी से लजाते-लजाते वह बोला है, “भाभी! भइया ने कहा है कि इस घर को अब बेच दिया जाय और इससे जो धन मिले, उससे बस्ती के मिनसन रोड पर जमीन लेकर वहाँ एक मकान बने।” कड़ाही के खौलते घी में सहसा चुल्लू भर पानी डाल देने से जो गति होती है, ठीक वही गति गुलाब भाभी की हुई। घायल सर्पिणी की तरह फनफना कर वह बोलने लगी। लजाधुर बेचारा सामने से हट गया। ड्योढ़ी के दरवाजे को थामे वहाँ चुपचाप खड़े-खड़े वह सुनने लगा।

भाभी कह रही थी, “अपने भइया से जाकर कहो कि इस बखरी में आकर पहले अपने हाथ से आग लगा दें। वाह रे वाह! अब बस्ती में घर बनेगा। यह घर नहीं था क्या? मुझे इस घर में भूजा, अब नये घर में जलाने की उनकी इच्छा है क्या? मैं बस्ती के नये घर में उस पैर की जूती रुमाली का चेहरा देखने जाऊँगी क्या? वाह रे तुम्हारे भइया! ऐसा कठोर दिल उनका। जो मेरी जरा-सी बात भी न माफ कर सके। मैं उनसे अब माफी भी क्यों माँगने जाऊँ! उन्हें जो-जो मुझसे बदला लेना था, क्या एक भी छोड़ा। अब क्या बाकी है उनका जो बस्ती में अब नया मकान बना कर वसूलेंगे।”

लजाधुर सुन रहा है, ड्योढ़ी का दरवाजा थामे। बोलती-बोलती गुलाब भाभी फफक कर रो पड़ी हैं। पर उनके भीतर की आग का दरिया उतना ही हाहाकार कर उठा है। लजाधुर सब जानता है—पिछले पन्द्रह वर्ष के कष्ट इतिहास का वह साक्षी है।

लजाधुर भी वहीं खड़े-खड़े रो पड़ा। गुलाब भाभी अपने कमरे में प्रतिष्ठित भगवान श्रीकृष्ण की मूर्ति के सामने शायद अब घुटने टेक कर बैठ गयी हैं और उन्हीं से अपने को शीतल करने की कोशिश कर रही हैं।

पर लजाधुर ड्योढ़ी में खड़ा-खड़ा रो रहा है।

आँगन के बीचोबीच उत्तर से दक्खिन तक जो दीवार खिंची है, उसे लजाधुर एक टक देखता है। यह दीवार तो बहुत बाद में गुलाब भाभी ने खिंचवायी है। इसके पहले आँगन से पूरब और—गुलाब भाभी के कमरे के ठीक सामने वाले कमरे में रघुवीर भइया ने एक औरत रखी थी। नाम था उसका हीरा। गुलाब भाभी की सुन्दरता का जवाब। इसके भी पहले जब रघुवीर भइया के अपमान और हृदय की चोट का घाव बिल्कुल ताजा था, तब इसी कमरे में इम्पीरियल हिस्की को बोलते दनादन खुला था। फिर इस कमरे में आयी थी बस्ती की मशहूर तवायफ अनारकली। एक हस्ते रह कर गयी थी। फिर आयी थी एक गोंडा से, और एक गोरखपुर से। उस राशनिंग के जमाने में सप्लाई अफसर का पेशकार कोई मामूली हस्ती थोड़े ही था। एक-एक दिन में हजार-हजार रुपये की आमदना। कपड़े का कोटा, हाँ, उसके कागज पर साहब से दस्तखत कराने के ढाई सौ रुपये। शादी पड़ी है? चीनी और मिट्टी का तेल चाहिए,—दीजिये बीस रुपये। मकान बन रहा है सिरमिट चाहिए, लोहा चाहिए, इसके लिए पाँच सौ रुपये से कम नहीं। साहब, मैं गरीब आदमी हूँ, मुझे एक मन नमक की परमिट चाहिए। मैं गाँव में एक-एक पैसा का नमक बेचता हूँ। उधर के लोग सिर्फ नमक रोटी खाते हैं। तो मैं क्या करूँ? दो, दस ही रुपये दो, जल्दी करो। वह गरीब बनिया अपनी फटी-मैली धोती की टेंट में एक पोटली रखे हैं। पोटली के भीतर एक पोटली, उसके भीतर एक बटुआ और उस बटुए में सिर्फ दस रुपये का एक नोट। वह थर-थर काँपता हुआ, वह धन पेशकार साहब की हथेली में रख देता है।

नेउर बाबा बताते थे कि उस राशनिंग के जमाने में, बाप रे बाप, एक पैसा के नमक के लिए सुबह से लाइन में खड़े-खड़े शाम हो जाती थी। और उस जमाने का दस रुपया बहुत बड़ी रकम थी। गजब था, वह उन्नीस सौ बयालिस से लेकर छियालिस तक का जमाना।

लजाधुर को भी याद है, वह अंग्रेजी इम्पीरियल हिस्की उस समय साढ़े सोलह रुपये बोटल आती थी। पर रघुवीर भइया को क्या चिन्ता? लजाधुर के हाथ ही में तो वह अपना भोला पकड़ा देते थे। उस भोले में लजाधुर भाँक कर देखता था—बस, रुपये ही रुपये। सिर्फ दस-दस के नोट। बस्ती से कार पर बैठ कर भइया रात के समय मुरादपुर गाँव में पहुँचते थे। पुरानी बस्ती के राधेश्याम अग्रवाल—बड़ी कोठी वाले की वह नयी कार बखरी के दरवाजे पर रात भर खड़ी रहती, फिर सुबह नौ बजे भइया को लेकर बस्ती पहुँचा देती। दूसरे दिन खलीला-बाद के घनश्यामदास नागर की नयी कार गाँव के उस खराब रास्ते को तै करती हुई यहाँ आती। नशे में धुत् रघुवीर भइया को समहाल कर वही लजाधुर कार से नीचे उतारता और उनका दायँ हाथ पकड़े वह उन्हें सीधे उसी कमरे में ले जाता। रघुवीर भइया उसी कमरे में से गुलाब का नाम ले-लेकर पुकारते और बहू को दिखा-दिखा कर शराब का कुल्ला करते—कभी तवायफ के मुख पर, कभी आँगन में। और रात को जब गुलाब बहू अपने कमरे में बन्द रोती होती, तब रघुवीर भइया अपनी प्रिया के संग खुले आँगन में बेसुध पड़े होते।

फिर बाद को आयी है उस कमरे में रघुवीर भइया की ब्याहता औरत की तरह रहने वह हीरा। उसके लिए तीन नौकरानियाँ रखी गयी थीं—एक भोजन-नाश्ता बनाने वाली, एक हीरा की सेवा करने के लिए और एक गुलाब बहू से लड़ने के लिए। हीरा को सुबह-शाम गुलाब बहू को दिखा-दिखा कर चिरौंजी का उबटन लगता था। तीन वक्त खाना—वह भी पोलाब, दोप्याजा, रोगनजोश से नीचे नहीं। तीन समय नाश्ता—मिठाई, फल, नमकीन, दूध और अंडा। पर वह हीरा ज्यादा दिन उस कमरे में रह नहीं पायी। उसे चेचक हुआ और वह चटपट मर गयी।

तब इस कमरे में रहने आयी थी वह सरजू पार से आयी हुई एक टाकुर की लड़की। सोनपत्ती नाम था उसका। उतनी सुन्दर तो वह

नहीं थी। पर गजब की स्नेही थी वह। वह क्या जाने किसी से कोई कुभाव रखना! हरदम हँसती रहती थी। गुलाब बहू को वह दीदी कहती थी। सुबह-शाम अपने आँचल से उनके चरण छूती थी। एक दिन इसकी खबर रघुवीर भइया को लगी, उसी दिन उन्होंने इस आँगन में यह दीवार खिचवाई थी। सोनपत्ती पूरब ओर की खंड में और गुलाब बहू पश्चिम ओर, बीच में यह दीवार।

रघुवीर भइया अब मुरादपुर गाँव में बहुत कम आते थे। कहीं पन्द्रह-बीस दिनों में एक रात के लिए। अब वह संध्या पाँच बजे हाकिम के साथ ही इजलास से उठ जाते थे। लजाधुर को अपने साथ लेते थे और फर्स्ट क्लास के दो टिकट कटा कर कटिहार मेल से आठ बजते-बजते लखनऊ पहुँच जाते थे। उन दिनों लखनऊ के 'रवापल होटल' में एक मशहूर और मारुफ गौहरजान रहती थीं। मलीहाबाद के किसी नवाब साहब की रखैल। उसी गौहरजान के लिए रघुवीर भइया रोज-रोज लखनऊ चक्कर लगा रहे थे। गौहरजान की माँ कहती थी, "जब नवाब साहब यहाँ से कहीं तशरीफ ले जायँ, तभी मैं अपने बेटी से आपकी मुलाकात करा सकती हूँ।"

"होगे कहीं के नवाब साहब।"

एक दिन भोले में नोट भर कर और उसमें एक पिस्तौल डालकर रघुवीर भइया ने लजाधुर के हाथ में वह भोला टाँग दिया। बस्ती स्टेशन पर गाड़ी में चढ़ते-चढ़ते बोले, "सुनो लजाधुर, आज या तो मैं, या तो वह साला नवाब...."

लजाधुर को याद आ रहा है। रघुवीर भइया का वह न्यूकट काला चमकता हुआ जूता। कीमती रेशम का कुर्ता। फर्स्ट क्लास धोती। पूरे शरीर से खस की भीनी-भीनी खुशबू उड़ती हुई। एक पाकेट में मुँह पोछने की रुमाल, दूसरी में जूता पोछने की। लजाधुर के दूसरे भोले में है—भइया की कंधी, शीशा, एक बट्टी बढ़िया साबुन और

एक तौलिया। जिस-जिस स्टेशन पर वह कटिहार मेल रुकती है, भइया उस स्टेशन पर उतर कर लजाधुर के हाथ से साबुन और तौलिया लेते हैं और अपना मुँह धोते हैं। फिर गाड़ों में आकर कंबी करते हैं। लखनऊ के चारबाग स्टेशन से पचास रुपये फी घंटे के हिसाब से बिल्कुल एक नया टैक्सी किराये पर लेते हैं और दनदनाते हुए 'रवायल होटल' में वह गाड़ी रोकवा लेते हैं। एक पाकेट में रुपये भरे हुए, दूसरी में वह पिस्टल—रघुवीर भइया बीच के जीने से खटखटाते हुए ऊपर चढ़ जाते हैं। लजाधुर बेचारा डरा हुआ नीचे घूम रहा है। "बाप रे, कहीं वह नवाब साहब न इसी बीच आ जायँ और मेरे भइया को...."

लजाधुर बड़ा चौकन्ना होकर नीचे घूम रहा है। यही गर्मी के ही दिन थे वे। लजाधुर का गला सूख रहा था। सामने एक आदमी कुलफी बेच रहा था, लजाधुर ने एक कुलफी खरीदी और उसे सुग्गे की तरह खाने लगा। एक बार वह मुँह में कुलफी डालता, तो दूसरी बार गर्दन उठाकर चारों ओर देख लेता।

ऊपर गौहरजान की माँ तैयार न थीं। भइया ने आवा देखा न ताव। एक हजार रुपये की थैली माँ के मुँह पर दे मारी। माँ ने ही-ही करते हुए भइया से अपनी बेटी को मिला दिया।

कुछ ही देर बाद वह नीचे नवाब साहब की गाड़ी आ रुकी। लोग नवाब साहब, नवाब साहब चिल्ला उठे।

फिर लजाधुर को भी हिम्मत आ गयी। उसने नीचे से ही मुँह में उँगली डाल कर तेजी से जबान दबाकर एक सीटी बजा दी। भइया पीछे के जीने से दौड़ते हुए बाहर निकल आये।

वह दृश्य सोचते-सोचते ही आज फिर लजाधुर को हँसी आ गयी।

वह लजाधुर हँसे कि रोये। वह तब भी इसी धर्म-संकट में था और आज भी है! पर लजाधुर जब इस तरह हँसता भी है, तब भी उसकी शिशुवत् आँखों में आँसू उमड़ पड़ते हैं। पता नहीं क्यों? उसी समय

अपने कमरे से निकल कर गुलाब बहू लजाधुर के सामने आ खड़ी हुई। उनका मुँह आँसुओं से तर था। भीगे मुँह को आँचल से पोछती हुई उन्होंने लजाधुर की कलाई थाम ली और अपने कमरे की ओर उसे ले जाने लगीं, "मेरी जबान ही तो जली हुई है। एक दिन इसी तरह जलती हुई चिता की आग में बैठ जाऊँगी, पर यह मेरी जबान, लगता है तब भी न ठंड होगी। देवर बाबू, तुम क्यों इतना दुखी होते हो, मैंने तुम्हें कुछ थोड़े ही कहा है।" गुलाब बहू की वाणी में जैसे सहसा अमृत धुल गया। तब लजाधुर ने देखा, गुलाब भाभी के उस पीले मुख पर कुछ बरस आया हो—जीवन-राग, स्नेह-माया, ममता और उनके भीतर का संग्रहित अभुक्त वह स्त्रीत्व; उसकी महिमा।

गुलाब भाभी लजाधुर को गुदगुदा कर हँसने लगीं, "देवर, तुम्हें लड़की होना चाहिए। मैं तुम्हारी शादी कर देती और अब तक तुम तीन बच्चों की माँ बन गये होते।"

"और अब तक तुम्हें भाभी...." लजाधुर के मुँह से यह बोल निकलने को ही थे कि उसने सम्हाल लिया—नहीं नहीं, भाभी से यह बोलाव ठीक नहीं। यह तो भाभी के हृदय में अग्निबाण जैसे लगेगा और उनके सामने गत अठारह-बीस वर्षों का वह करुण इतिहास, उसकी मूक यातना सौ-सौ कंटों से कराह उठेगी।

न भाभी न! मैं चुप हो रहूँगा। तुम्हीं मेरा जी भर के मजाक करो। मेरा कुछ भी बोलना, कहीं तुम्हारा अनन्त धाव न छू दे।

लजाधुर यह सोचता हुआ सिर झुकाये बैठा है। दोपहर का समय है। गुलाब भाभी नये, बिल्कुल नये चूल्हे पर देवर के लिए अत्यन्त स्नेह से भोजन बना रही हैं। लजाधुर के लिए भाभी ने सदा नये चूल्हे पर ही भोजन बनाया है। केवल लजाधुर के लिए। केवल लजाधुर.... केवल....

चौके के चूल्हे पर तो बना भोजन स्वादहीन होता है। ऐसा क्यों

है, इसे सिर्फ लजाधुर ही जानता है। और लजाधुर इस बात को किसी से नहीं बतायेगा। उसका हृदय तो सागर है सागर। इसमें दोनों ओर के विश्वास हैं। यही तो लजाधुर का सारा भाग्य-दुर्भाग्य है। फिर किसी का विश्वास वह क्यों कहीं प्रकट करे? उसे न जाने कितनी बातें मालूम हैं, पर उसे कुछ भी नहीं मालूम।

गुलाब भाभी पंखा झूल रही हैं। लजाधुर वह अमृत जैसा स्वादपूर्ण भोजन कर रहा है। ऐसा भोजन लजाधुर ने कहीं अन्यत्र नहीं खाया है। किसी ने भी नहीं खाया होगा। रघुवीर भइया ने भी नहीं, उन दिनों जब वह सप्लाइ राशनिंग अफसर के पेशकार थे और एक वक्त के भोजन पर सौ-सौ रुपये तक खर्च कर देते थे।

पंखा झूलते-झूलते जब गुलाब भाभी आँगन में खिंची हुई उस दीवार की ओर देखने लगतीं, तब लजाधुर आँख उठा कर सामने बैठी हुई भाभी को देखता—जिनके मुख पर से वह सुहागरात अब तक नहीं बीती है। वह विश्वासमयी बेला जैसे वहाँ रुक कर अब तक वहीं प्रतीक्षा कर रही है।

लजाधुर देख रहा है। भाभी की दोनों कलाइयों पर, जहाँ चूड़ियाँ भरी हैं, उनके बीच तागे में प्रेमबूटी की जड़ मोरपंख में बाँध कर उसकी ताबीज झूल रही है। दोनों गोरी बाँहों पर दो गंडे बँधे हैं और गले में सुहागमाला के साथ एक टोटका बाँध रखा है।

लजाधुर को स्मरण है, जैसे अभी कल ही की घटना हो। प्रेमबूटी लाने के लिए भाभी ने उसी से कहा था। उस समय वह हीरा इस दीवार के सामने काले कमरे में रहती थी। रघुवीर भइया ने अपने हाकिम से एक हफ्ते की छुट्टी ले रखी थी और दिन-रात इसी कमरे में पड़े रहा करते थे। तभी भाभी ने लजाधुर को प्रेमबूटी लाने को भेजा था। कहाँ है वह अकबरपुर के आगे जाफरगंज स्टेशन, वहाँ जंगल में वह बूटी लजाधुर को मिली थी—लाल-लाल बूटी, धरती में छिपी हुई, जैसे किसी ने मूँगे बिखेर दिये हैं। रात के अँधेरे में दमक कर चमकती

हुई वह प्रेमबूटी। जूता उतार कर, हाथ-पैर धोकर लजाधुर ने प्रेमबूटी उखाड़ी थी। ऊपर से जितनी छोटी, जमीन के भीतर उसकी जड़ उतनी ही गहरी। कितनी मादक सुगन्ध थी उस बूटी में। लोग बताते हैं कि चकई-चकवा जहाँ दिन भर निवास करते हैं, वहीं यह बूटी होती है।

गुलाब भाभी दीवार की ओर एक टक देख रही थीं। लजाधुर से न रहा गया, “क्या है भाभी?”

भाभी का ध्यान भंग हुआ। बड़े गीले स्वर में बोली, “क्या करूँ देवर राजा, जब मैं इस दीवार को निहारती हूँ तो मुझे उस सोनपत्ती की सुधि हो आती है।” “कैसा दिल था उसका। सच देवर! वह सोनपत्ती मुझे, इस तरह याद आती है, जैसे वह मेरी बेटी हो।” यह कहते-कहते गुलाब भाभी निःशब्द रो पड़ीं।

रघुवीर भइया के सम्पर्क में लजाधुर ने जितनी स्त्रियाँ देखी हैं, उन सब में उसे भी वही सोनपत्ती ही याद आती है। जितना ही लजाधुर उसके सामने लजाता था, उससे भी ज्यादा वह सोनपत्ती उससे लजाती थी। वह लजाधुर को ‘मोर देवर बाबू’ कहती थी। सबमें वही एक शुभ और भाग्यवान थी। उसी की गोद में भगवान ने पहला बच्चा दिया था। पर वह बच्चे को जन्म देकर स्वयं इस संसार से चली गयी। गुलाब भाभी ने कितनी सेवा की थी सोनपत्ती की! पर वह अपने शिशु को गुलाब बहू के अंक में देकर चली ही गयी। गुलाब बहू ने उस शिशु को नाम दिया था—श्रवनकुमार। करीब पन्द्रह ही दिन तक वह शिशु गुलाब बहू के अंक में जिया था, पर वह वात्सल्य प्रेम कितना अद्भुत था! गुलाब भाभी को वेक्षण अब तक नहीं भूलते। शिशु ने किलकारियाँ मार-मारकर जो गुलाब बहू की छाती में अपने फूल जैसे चरणों को मारा था, वह स्पर्श सुख, वह अनुभूति भाभी के प्राण से कभी नहीं दूर होती।

लजाधुर उसी शाम बस्ती वापस चला गया। रघुवीर भइया खुले

आसमान के नीचे पलंग पर शांत लेटे थे। मुश्किल से दो घंटे रात बीती थी। लजाधुर उनके पायताने बैठ कर गुलाब बहू के विषय में समाचार देने लगा। रघुवीर भइया सब चुपचाप सुनते रहे। जैसे उनको पहले से ही पता था कि यही उत्तर वह गुलाब बहू देगो। वह वैरागी की तरह आसमान की गहराई में कुछ देखते रहे।

एक दिन नेउर बाबा ने कहा था, “सुनो हो रघुवीर भइया, यह जिनगानी भी खूब है। इसमें कभी एक क्षण ऐसा आता है कि वह हमें जिन्दगी भर भटकने के लिए छोड़ देता है। जी कहता है कि अपने को मिटा दे।”

पर नेउर बाबा यह भी कहा करते थे, रघुवीर भइया को लेटे-लेटे याद आ रहा है, “क्षिमा सबसे बड़ी चीज है। यह ईश्वर का रूप है। यह अभिरित है। मुला जिसमें कोई कोर कसर है, वह क्षिमा नहीं कर सकता।”

रघुवीर भइया ने उन्नीस सौ सैंतालिस में ही अपनी पेशकारी की नौकरी से इस्तीफा दे दिया है। अब वह बस्ती के सबसे बड़े वकील हनुमान प्रसाद के हेड मुंशी हैं। बहुत मानते हैं हनुमान प्रसाद जी भइया साहब को। जब मन होता है, तब भइया कचहरी या वकालत-खाने में जाते हैं, नहीं तो वकील साहब के बाँगले से लौट कर सीधे अपने घर में पड़े रह जाते हैं। न कोई किताब पढ़ पाते हैं, न सो ही पाते हैं। किताब पढ़ने बैठते हैं तो अपने जीवन के पृष्ठ उलट पड़ते हैं उनकी आँखों में। जब थोड़ी देर के लिए नींद भी आती है, तब उन्हें अक्सर वही सुहागरात वाली घटना स्वप्न में दिखायी पड़ती है। फिर कई दिन तक भइया की भूख-प्यास हर उठती है। वह गजब्या याद आती है। बाप रे किस मुख से उस लड़की ने उस दिन गले में हाथ डाल कर कहा था “सुनो हो गोइयाँ! रूठो नहीं। गजब की सखी है मेरी! हाँ, थोड़ी बात की कड़ी है तो क्या, दिल तो प्यारा है। कड़ी

बात तो रूप का घमंड है। मेरी सखी का वह थोड़े ही है। मुस्करा दो न थोड़ा! अरे आज रात तुम्हें वह मिलेगा, जो कभी किसी को नहीं मिला है।”

वाह री गजब्या! सच उस रात मुझे वह मिला जो किसी को नहीं मिलता। क्यों मिले किसी को?

यह सोचते-सोचते रघुवीर भइया के ओठों पर एक कर्ण मुस्कान फैल जाती।

रमाली रघुवीर भइया के पैर दबाती हुई पूछती, “काहो, पान खावो, या चाय बनाई?”

रघुवीर भइया धीरे-से कहते, “कुछ भी लाओ रमाली! पैर बहुत दर्द कर रहा है।”

यह कह कर रघुवीर भइया आँख मूँद लेते। रमाली दो बीड़े पान चुपके से उनके मुँह में डाल देती और धीरे-धीरे वह भइया के पैर दाबने लगती। लजाधुर भी जानता है रघुवीर भइया के पैरों का दर्द।उस दर्द का दर्द।

आर्द्रा बीत गया। पुनर्वसु खूब बरसा। सरजू तट का वह पपीहा अब लाला की अमराई में बोलने लगा। रघुवीर भइया बहुत दिन बाद अकेले ही मुरादपुर आये।

इस साल अमराई में जितना ही अधिक आम आया था, उसी तरह इस साल सरजू नदी भी खूब बढ़ रही थी। सरजू तट पर एक लाइन से जो छः पेड़ आम के थे, उनके सारे आम चू-चू कर सरजू में गिर रहे थे।

रघुवीर भइया घर के भीतर नहीं जाते। न गुलाब बहू के हाथ का बना खाना खाते हैं। बाहर उसी वोरसी में बना हुआ खों-खों बाबा के संग उन्होंने भोजन किया।

मुरादपुर गाँव के अनेक लोगों ने गाँव पहले ही छोड़ दिया था।

सरजू मइया का कौन भरोसा । रातो-रात काट कर सारा गाँव अपनी गोद में ले लें । खों-खों बाबा और दरवाजे का नौकर तथा बखरी के भीतर की वह गुँगी नौकरानी सब लोग बखरी छोड़ देने के लिए आग्रह कर रहे थे । बखरी उखाड़ कर इतने सामान से दो घर बन सकते हैं । एक बस्ती में, एक इस सरजू से बहुत दूर किसी गाँव में । गाँव भर के लोगों ने अपना-अपना प्रबन्ध इस दिशा में कहीं न कहीं कर रखा था ।

रघुवीर भइया ने कहा, “मैं तो इसी के लिए आया था कि यह मकान समय के भीतर ही किसी के हाथ बेच दिया जाय या इसे तोड़कर.....”

रघुवीर भइया अपनी बात पूरी भी नहीं कर पाये थे कि दरवाजे के पीछे छिपी खड़ी गुलाब बहू उस पहाड़ की छाती की आग के समान भभक पड़ी, जिसकी चोटी किसी तूफान में टूट गिरी हो, “मैं नहीं बेचने दूँगी इस मकान को ! इस घर को भी तोड़ने चले हैं ! यह घर ही तो बचा था, जिसमें अपने को छिपाकर मैं जिन्दा हूँ । आँगन में दीवार तो खिंचा रखी है । आकर मेरी सौत के संग उस ओर रहें न ! मैंने कभी इन्हें मना किया है क्या ? यह चाहे जो करें, जहाँ-जहाँ जाकर भरमै, पर पत्नी तो मैं ही हूँ इनकी । यह पति मेरे ही कहलायेंगे ।”

गुलाब बहू के भीतर दबी वह अग्नि जब भभकती है, तो फैलती ही चली जाती है । मन के भीतर का वह विष-अमृत, शिव-अशिव दोनों भलकते रहते हैं पर सब से शिखर पर वही गुलाब बहू ही सुहाग ओढ़े बैठी है । ऐसा लगता है वह सुहागरात अब भी अपनी प्रतीक्षा में वहीं रुकी है । सती का तेज यद्यपि उसी सतवन्ती को ही जला रहा है, पर उसे क्या खबर ! उसे तो सिर्फ अपना ही आत्म-सम्मान, अपनी ही जिद और विश्वास याद है । शिखर टूट गया तो क्या ? सूरज का वह प्रकाश तब से इस पहाड़ पर नहीं पड़ा तो क्या, पहाड़ के भीतर जो

अन्तःसलिला वह सरजू नदी बह रही है । उस सरजू तट पर जो वह पपीहा बोलता है—“पी कहाँ ? पी कहाँ ?” हर वर्ष वह पपीहा मृगडाह नक्षत्र में आता है । पहली बोल वह उसी सरजू तट पर बोलता है । दूसरी बोल वह आर्द्रा में लाला की उसी अमराई में बोलता है । पुनर्वसु में वह बखरी के आँगन के आसमान में बोलता चला जाता है । पुष्य-अश्लेषा भर वह कहीं क्षितिज में छिपकर बोलता है, जैसे अपनी ही प्रतिध्वनि में । और मघा की वर्षा में वह पंख खोलकर नहाता है । तब तक धरती गीली और मीठी हो जाती है । पर स्वाती नक्षत्र तब भी बहुत दूर-दूर ही रह जाता है ।

अभागा स्वाती !

बोलता हुआ पपीहा !

तू भला मृगडाह में ही क्यों बोल पड़ा ? वर्षा के नक्षत्र तो आर्द्रा से शुरू होते हैं ।

गुलाब बहू किवाड़ के पीछे से बस बोलती जा रही थीं । रघुवीर भइया चुपचाप बैठे थे । उनके कानों में बड़ी हुई सरजू की हरहराहट और टीले के कगार से उसके लड़ते हुए थपेड़े सुनायी दे रहे थे । जैसे सरजू की वह बाड़ उन्हीं के भीतर बह रही हो—उन्हें अब तोड़ती हुई, उन्हें थपेड़े देती हुई ।

खों खों बाबा ने कहा, “बहू, तुझे अब भी नहीं सूझता । अरे-ऐसी ही तेरी पति भक्ति है तो बस्ती में ही चलकर रह न ! अब इस गाँव-घर में रखा ही क्या है ?”

“इस गाँव-घर में !” गुलाब बहू के मुख से सिर्फ इतना ही निकला । आगे का स्वर थरथरा के टूट गया ।

अन्त में रघुवीर भइया बोले, “अब और क्या चाहती हो, वह भी बोल दो न ! ताकि अन्त में तुम्हें कुछ पछताने को न रह जाय ! कहो तो मैं ही तुम्हारा चरण छूकर माफी माँग लूँ ! भाई तुम तो सुन्दरी-सतवन्ती हो । अधर्मी, काला-कलूटा, शराबी-कबाबी तुच्छ तो

मैं ही हूँ।”

गुलाब बहू निःशब्द, पर आँचल में हाहाकर करती हुई दरवाजे के पीछे रो रही थी।

पर सहसा बहू के कानों में रघुवीर भइया की आवाज टकरायी, “कोई बात नहीं, मुझे तो वहीं बस्ती में रहना है। अपनी जिदगी में एक तो साथ है—वह अपनी रुमाली। न सही कोई अपना घर....वह किराये का ही मकान सही।”

पति के इस बोल के साथ ही गुलाब बहू चैतन्य हो गयी। उसकी आँखों के आँसू सूख गये।

वह आप्नेय स्वर में बोली, “मुझे भी अपनी इस बखरी में रहना है। मेरा डोला जिस घर में उतरा है, मैं क्यों जाऊँ उससे बाहर! मेरे आँगन में यह दीवार खिंची रहे, मुझे मंजूर है। मुझे इससे कोई शिकायत नहीं। क्योंकि तुम मेरे ही पति हो! पर याद रखना, जैसे सब जल-भुनकर मरी हैं, उसी तर यह तुम्हारी जिंदा रुमाली भी नहीं बचेगी। मेरे सिवा तुम्हारे साथ और कोई नहीं बचेगा। शेष सब इसी में जल जायेगा।”

यह कहते-कहते गुलाब बहू के हृदय में दबा हुआ उच्चाप भड़क उठा। उस क्षण गुलाब बहू ने पहली बार अपना सिर पीटा था। सिर और मुँह दोनों को अपने हाथों से तड़तड़ा डाला था। जैसे कोई माँ अपने ही बच्चे को पीट डाले।

रघुवीर भइया के एक मन ने कहा कि दौड़कर वह गुलाब बहू के हाथ पकड़ ले—यह क्या कर रही हो बहू, पागल तो नहीं हो गयीं?

पर दूसरे वैरागी मन ने उस पुरुष को रोक लिया, नादान कहीं का! अब भी भावुक बना है! इंसान को नहीं जानता तू। कितना बेवस और शक्तिशाली है वह! वह खुद अपनी कहानी रचता है, और उस पर खुद पक़्तताता है।

रघुवीर भइया सीधे घर से उठकर कलवारी वाली सड़क पर

चले आये। चार बजे वाली उन्हें मोटर मिली, और वह कलवारी, कुसौरा, मनोरामा नदी, नगर कुआनों को पार करते हुए बस्ती पहुँच गये।

आर्द्रा और पुनर्वसु की उस वर्षा से सरजू नदी पहले ही खूब भर आयी थी। मुरादपुर से टाँडा तक एकापट। एक नर। ठेकेदार की की वह बड़ी नाव सुबह से शाम तक दो ही बार टाँडे से कलवारी घाट आती थी और वही दो बार खेवा करके साँभ कर देती थी।

पुख्य और अश्लेखा में सूखा रहा। आसमान से एक बूँद भी न टपकी। पपीहा बेचारा रटता रह गया। पर सरजू में पानी एक इंच न घटा। पानी से टीले का जो कगार सिर्फ आठ हाथ ऊँचा बाकी था, वह उतना ही था। इस साल पहाड़ पर बहुत वर्षा हुई है शायद। कगार पर जो छः आम के पेड़ हैं—और जिन पर खूब आम आये थे, उन्हें टाँडे के महाजन ने अभी पिछले दिनों पिटवा लिया था। आधा आम सरजू मइया ने लिया था, आधे आम बोरे में भर-भर के महाजन ले गया था।

और अब गाँव के लोग, बच्चे और उनके दोर-डाँगर सरजू के कगार पर नहीं आते। टीले का सारा कगार इस साल धम्म-धम्म बोलता है। लगता है, सरजू मइया ने नीचे-नीचे बहुत दूर तक काट रखा है।

मघा चढ़ते ही फिर वर्षा शुरू हुई। दो दिन तक लगातार ताल टोंक-टोंककर वह मघा बरसता रहा। रात को अर-अर कर बहुत भयानक आवाज आयी, जैसे गाँव में भूकम्प उठ गया हो। मुरादपुर गाँव में गोहार मच गयी। टीले का सारा कगार टूटकर धार में समा गया। अमराई के वे छः आम के पेड़ सरजू माई ले गयीं।

जय सरजू मइया की!

तभी नेउर बबवा कहा करते थे—आठो पहर जगना, तब सरजू

तट पर रहना ।

अब एक क्षण मुरादपुर में रहना खतरे से खाली नहीं है। जब रक्तक टीला ही न रहा तो कौन इस धरती को कटने से बचायेगा। कलवारी का महाजन पचास आदमी लेकर अपनी अमराई में फाट पड़ा। हरे-हरे, फलों से भरपूर आम की जड़ों में कुल्हाड़ियाँ चलने लगीं। चिंगवार मार-मार कर आम के वृक्ष गिरने लगे।

गाँव भर में जैसे लूट मच गयी। लोग मुरादपुर गाँव से जान-माल लेकर भागने लगे। जैसे गाँव में महामायी आ गयी हों। जो गाँव में धनी थे वे तो रात को ही भाग निकले थे। जो गरीब-निर्धन थे वे नहीं भाग रहे थे। वे तो सब के सब अपने बाल बच्चों सहित कटती हुई अमराई में कच्चे पक्के आम बीन रहे थे। उजड़ते हुए घरों में से वे फटे-पुराने कपड़े, छूटे गिरे अन्नादि इकट्ठा कर रहे थे।

खों-खों बाबा ने दरवाजे के नौकर को बस्ती दौड़ाया। वह बेचारा भीगता हुआ, जगह-जगह टूटकर बहती हुई बस्ती वाली सड़क को पार करके बस्ती पहुँचा।

संध्या तक रघुवीर भइया लजाधुर को अपने साथ लिये हुए मुरादपुर गाँव में पहुँच गये। मघा का बरसना तब तक बंद नहीं हुआ था। सारा गाँव करीब-बरीब उजड़ चुका था। बरसों में, पुरत-दरपुरत से बसा-बनाया हुआ गाँव एक ही दिन में जैसे वीरान हो गया था।

बहुत-बहुत दिन बाद रघुवीर भइया सीधे बखरी में चले गये। गुंगिया नौकरानी रात ही अपने गाँव भाग गयी थी। घर झन-झन कर रहा था। पिछवारे सरजू नदी हरहरा कर बह रही थी। कगार टूट रहे थे।

सारे घर में अंधकार छाया हुआ था। रघुवीर भइया जैसे किसी दूसरे के घर में हल रहे हों किसी अनजानी बखरी में। लजाधुर उनका हाथ पकड़े आगे-आगे चल रहा था।

“भाभी ! भाभी ! गुलाब !”

लजाधुर की पुकार सारे घर में टकरा गयी। कोई उत्तर नहीं। गुलाब बहू का कमरा भीतर से बंद था। उसमें से प्रकाश की एक हल्की-दीर्घ रेखा बंद किवाड़ के बीच से बाहर बरामदे में आ रही थी। लजाधुर ने बंद किवाड़ को थपथपा कर पुकारा, “भाभी ! भाभी...किवाड़ खोलो ! यह देखो, भइया आये खड़े हैं !”

पर भीतर से कोई उत्तर नहीं। कोई प्रतिक्रिया नहीं। लजाधुर डर गया। भइया ने प्रकाश के उसी रास्ते से भीतर कमरे में भाँककर देखा तो स्तम्भित रह गये। गुलाब बहू ने वही कामदार लखनऊ वाली साड़ी पहन रखी है। सारे शरीर में गहने सुसज्जित हैं। अंग-अंग पर जैसे कमल और गोंदा फूले हैं। माथे पर वही बिंदिया। माँग में अग्नि की तरह दहकता हुआ सिन्दूर। वही सुहागरात वाली सारी वेशभूषा। पलंग उसी तरह बिछा है। दीवट पर दियना जल रहा है। पलंग पर उसी मुद्रा और उसी भंगिमा में दुल्हन गुलाब बहू बैठी है। मुँह पर जरा-सा धूँघट है और लज्जा के भार से वह मुँह नीचे झुका है—जैसे चाँदनी रात में सूरजमुखी का फूल।

रघुवीर भइया ने सीधे खड़े होकर लजाधुर से कहा, “तुम्हारी भाभी पलंग पर बैठी हुई है, जोर से पुकारो उसे !”

लजाधुर ने उसी प्रकाश पथ से भाभी को देखते हुए पुकारा, “भाभी ! दरवाजा खोलो ! जल्दी करो !”

“कौन ?” भीतर से भाभी की आवाज आयी।

“मैं हूँ आपका लजाधुर ! और भइया भी खड़े हैं !”

“क्यों ?”

“जल्दी से इस घर में से निकल चलिये ! सरजू की काट बिल्कुल पास पास आ गयी है। आधी से ज्यादा अमराई कट गयी है। खोलिये जल्दी से दरवाजा और निकल चलिये !”

“यह अब मुझसे नहीं होगा देवर !”

“क्यों भाभी ?”

“जब आज तक इस घर से कहीं नहीं निकली, फिर इस जान की लालच के नाते इस घर को क्यों छोड़ूँ?”

लजाधुर बंद किवाड़ पर सिर टकराकर रो पड़ा। रघुवीर भइया आँगन में खिंची जड़ दीवार को निहार रहे थे। उनके कानों में एक ओर वह गजबना हंस रही थी, दूसरी ओर सरजू को तूफानी लहरों का चीत्कार सुनायी दे रहा था।

भीतर से गुलाब बहू की आवाज आयी, “धबड़ाओ नहीं देवर, मैं मरूँगी नहीं! इस सरजू में चाहे प्रलय आ जाय, पर वह मुझे नहीं डुबा सकती। भला मैंने ऐसा अपराध ही किया क्या है!”

सारा गाँव भयानक लग रहा था! न कहीं कोई कुत्ता भूँक रहा था, न किसी आदमी की आवाज आ रही थी। सब अपनी जान ले लेकर भाग गये थे।

बखरी के बाहर आसमान के नीचे वही रघुवीर भइया लजाधुर के साथ खड़े थे, मघा को फुहार गिर रही थी। लजाधुर की आँखें भरी हुई थीं और वह सिर झुकाये था। रघुवीर भइया अपना तप्त मुख ऊपर किये हुए मघा को उस फुहार में भीग रहे थे। नहीं-नहीं, अपने अनुत्पन्न मुख को शीतल कर रहे थे।

उसी समय बहुत तेजी से बाहर का वह विशाल दरवाजा बंद हो गया। जैसे हवा का एक तेज झोंका आया हो, और उसके साथ ही दहलीज में बिजली कौंधी हो।

लजाधुर ने दौड़कर देखा—दरवाजा भीतर से बंद हो गया है। रघुवीर भइया के भीगे मुख पर मुस्कराहट दौड़ गयी—सुनो हो स्वर्ग वासी नेउर बाबा, तुम कहते थे न, कि क्षिमा ईश्वर का रूप है। पर बोलो, मैं कहाँ ले जाऊँ अपना यह पुरुष हृदय! आबो अब तुम्हीं न्याय करो।

भइया के उसी भीगे मुख पर एक आँसू टुलक आया। “रो नहीं लजाधुर! नेउर बाबा सच कहा करते थे, मनुष्य जितना अपने को

छलता है, उतना और किसी को नहीं! रो नहीं बेटे! बस, मनुष्य की तू विवशता देख!”

लजाधुर चुप था! कभी वह रघुवीर भइया के मुख को देखता, कभी उस बंद फाटक को! सरजू में हर क्षण अड़ार टूट रहे थे। समय आधी रात से ज्यादा गुजर गया था। सरजू जब अमराई की जमीन काटकर उसे अपनी लहरों में समेटती हैं, तो उसका धमाका, उसकी काँप बखरी को सीधे बेध कर यहाँ आती है। लजाधुर बार-बार काँप जाता है।

सहसा लंका के कोने की ओर के बादल काले हो गये। हवा रुक गयी। उस निस्तब्धता में बहुत दूर से पपीहे की आवाज आयी—“पी कहाँ? पी कहाँ?” तभी बखरी के पिछवाड़े खपड़ों के गिरने की आवाज हुई। सरजू में बहुत बड़ा कगार टूटा, इतना बड़ा कगार कि गाँव हिल गया। तभी एक तेज बिजली कौंधी, मघा के वे प्रलयकारी बादल गरजे। बखरी में भूकंप आ गया था। भीतर से बंद वह दरवाजा कड़कड़ा कर टूट गया। आधी बखरी सुहागरात के उस अकम्प जलते दीपक के साथ सरजू में टूट चुकी थी।

लजाधुर भाभी का नाम ले लेकर रो रहा था। तभी बड़ी-बड़ी बूँदों में वर्षा शुरू हुई और साथ तेज हवा भी। जैसे प्रलय की बेला घिर आयी हो। क्रोधित सरजू नदी, मघा के वे काले बादल, तूफान ढाहती हुई पुरवाई, तीनों अपनी सम्मिलित शक्ति से मानो सब कुछ निःशेष कर देंगे। सरजू की लपलपाती ऊँची लहरों में आज कितनी भूख, कितना उच्चाप जाग उठा है! उस भयानक धारा के ऊपर जब-जब बिजली कौंधती है, तो ऐसा लगता है जैसे उन लुब्ध लहरों पर सुहागरात का वही पलंग बिछा है और उस पर बैठी हुई गुलाब बहू किसी की प्रतीक्षा कर रही है।

सुबह भी पानी का बरसना न बंद हुआ। बखरी का आधा हिस्सा

सरजू की लहरों में था। आँगन में खिंची हुई वह दीवार अब भी आधी शेष थी।

लजाधुर हाथ पकड़े हुए रघुवीर भइया को सम्हाल कर दूटे दुइ-दरे में ले गया। दाँयीं ओर इस बखरी का चौका था। दूटा हुआ। बड़ा-सा वह चूल्हा जिस पर कभी बीसियों आदमी का भोजन बनता था, वह वर्षा के पानी से गल गया था। लजाधुर ने दोनों हाथ से चूल्हे के नीचे की जली मिट्टी को हटा दिया। चूल्हे के नीचे यह सब क्या गड़ा है? बबूल की लकड़ी से स्त्री के पुतले बने हुए और बइर की पत्तियाँ। आधी जली हुई, कुछ कोयला और शेष बिना जले हुए पुतले और उनके चारों ओर वही बइर की पत्तियाँ।

सभी शिकायत करते थे—इस बखरी के चौके में बना हुआ भोजन स्वाद हीन होता है।

गुलाब बहू ने रघुवीर भइया को कितने विश्वास से जवाब दिया था, “थाद रखना, जैसे सब जल-भुन कर मरी हैं, उसी तरह तुम्हारी यह जिदा रुमाली भी नहीं बचेगी। मेरे सिवा और कोई नहीं! शेष सब इसी में जल जायेगा।”



हेमन्त ऋतु

अश्विनी की बात करते-करते हेमन्ती की जैसे सुध-बुध खो जाती। लगता, वह अपने आप से बातें करती चली जा रही है—अकेली अपने आप से बातें करती चली जा रही है—अकेली अपने मन में सम्पूर्ण। बस बातें करती रह जाती है। तब उसे यह भी होश नहीं रहता कि उसके सामने उसका पति बैठा है।

पति, मन मिश्रा—मनहर पूरा नाम है। हेमन्ती बोली, “यह पुलओवर मैं अपने अन्नी के लिये बुन रही हूँ। देखो न, कितना अच्छा रंग है! क्या डिजाइन है! अन्नी के गोरे छुरहरे बदन पर ऐसा लगेगा कि...ऐसा कि !...”

कहते-कहते हेम ने सारे पुलओवर को अपनी हथेलियों में भर कर उसमें अपने दमकते हुए मुख को छिपा लिया। गोरे उन्नत ललाट पर, जहाँ उसने एक लाल टीका बना रखा था, उसके नीचे पुलओवर की आधी बनी बाँह जैसे रह-रहकर काँपने लगी। जहाँ उसकी सुन्दर लम्बी आँखें थीं, और उन आँखों के कोने पर, जहाँ काजल की एक बहकी हुई रेखा थी, वहाँ हेम की पतली उँगलियों के सिरों पर लम्बे-लम्बे लाल खूबसूरत पैंने नाखून जैसे उस मुखश्री के पहरेदार, लाल-लाल पगड़ी बाँधे तैनात सिपाही की तरह थे।

सामने बैठा हुआ पति मनहर उसे न देखना चाह कर भी जैसे एकदम देखता रहता। देखता, पर कुछ समझ नहीं पाता कि वह सब नाटक था, या नाटक से भी कोई बड़ी चीज। वह यथार्थ था कि यथार्थ से भी कोई अति यथार्थ। फिर उसकी आँखों में शिशिर ऋतु बर्फीली आँधी बहने लगती, 'हू-हू' करती हुई।

हेम ने फिर अपना मुँह ऊँचा करके कहा, "कल हम दोनों 'यानी हेम और अन्नी' एक बहुत अच्छी जगह पिकनिक करने जायेंगे। अन्नी ने कहा है कि पिकनिक को खास जगह किसी को न बताना। मैं एक दिन यों ही मजाक-मजाक में अन्नी से रूठ गया। फिर तो वह मिस्टर तीन दिनों तक जगह-जगह मेरा इन्तजार करते रहे! कभी कनाट प्लेस में सिंधिया हाउस के सामने, कभी जमुना-किनारे राजघाट पर तो कभी इण्डिया गेट पर या आल्प्स के कोरीडोर में। कभी विरला मन्दिर के अहाते में तो कभी होटल इम्पीरियल-टेवर्न में।"

मनहर खामोशी से उसके सामने से हट गया। आज तीन वर्ष से वह इसी तरह से करता है। बोलती हुई हेमन्त के सामने से वह चुपके से हट जाता है। आज उस तरह हटने की इच्छा उसकी न थी। आज वह अपना आखिरी निर्णय उसे सुना देना चाहता था, पर अब क्या फायदा—यह सोचकर जैसे उसके भीतर के उदास तटस्थ व्यक्ति ने उसे चुपके से वहाँ से हटा दिया।

हेम ड्राइंगरूम में बैठी उसी तरह अपने आप से बातें कर रही थी। मनहर भीतर जाकर अपने हाथ से पानी पी आया। अपने कमरे में चुप खड़ा रहना चाहता है, पर खड़ा नहीं रह पाता। एक किताब खोलकर पढ़ना चाहता है, पर नहीं पढ़ पाता और अशान्त कदमों से वह अपने फ्लैट के बाहर निकल आता है—जैसे उसके चारों ओर वहाँ हेमन्ती उसका पीछा करती हुई उससे पूछ रही है :

"क्यों की तूने मुझसे शादी?"

"क्यों की शादी?"

मनहर अवाक् और निस्तेज, हाथ मलता रहा। आज उसकी हथेलियाँ सूखी हैं—विल्कुल सूखी, जैसे सामने विथर्ड रोड के किनारे पीपल के नोचे गिरी हुई उसकी सूखी पत्तियाँ...पत्तियाँ, हेमन्त के करुण राग!

अभी कल ही दिसम्बर का पहला सप्ताह बीता है। रात बहुत तेज आँधी आधी थी। पड़ोसी मिस्टर नायक के लॉन में पीपल की ढेर सारी सूखी पत्तियाँ गिरी हैं। मिसेज रूबी दास के छोटे से बगीचे में रातरानी की बेल ही टूट गयी। गंधराज की टहनियों को जैसे किसी ने डरावों से पीट-पीटकर तोड़ दिया हो। गजब थी रात की आँधी! मनहर को स्मरण है, पिछले साल भी इन्हीं दिनों, इसी तरह आँधी आई थी। और, उससे पिछले साल भी! नई दिल्ली भी क्या जगह है! हर हेमन्त में उसी तरह रात की आँधी! और जब-जब यह आँधी आयी है, मनहर को स्मरण है, और अभी पिछली रात तो ताजी ही है—हेमन्ती जब तक घर नहीं लौटती तब तक सुने घर में मनहर बैठा रहता है और आँधी उसके पूरे घर को हिलाकर, भकभोर कर चली जाती है। अजीब बात है यह! क्या गजब का संयोग है! कैसी है यह हेमन्त ऋतु! इतनी विश्वासहीन...इतनी दुखदायी!

पर कल रात की आँधी तो जैसे मनहर के दिलो-दिमाग पर अब तक चल रही है। इसके मन में रातरानी और गंधराज के कितने हरे-हरे पेड़ टूटकर विछ गये हैं! पीपल के सारे पीले पत्ते उड़कर उसमें भर गये हैं।

मनहर देख रहा है, सामने का पीपल बड़ा हरा-हरा लग रहा है। उसमें अब तक एक भी पीला पत्ता नहीं है। पीपल के ऊपर विल्कुल उसकी चोटी पर डूबते हुए सूरज की अन्तिम किरणें बैठ-बैठकर उड़ रही हैं, उड़ती जा रही हैं। उस वृक्ष के ऊपर, बहुत ऊपर, आकाश में कल रात के बिना बरसे हुए बादल अभी तक छाये हुए हैं। जो बादल अब तक नहीं बरसे, वे अब क्या बरसेंगे? बस, बुझकर रह जायेंगे।

‘नहीं, नहीं ! वे थोड़े से बादल आज रात को निश्चय ही पूरे आसमान पर छा जायेंगे । आज की रात ये बादल बरस कर ही मानेंगे । नहीं तो ये अभर्मी कहे जायेंगे—स्वभावच्युत !

हेमन्ती लाल रेशमी सूट पहने, पुलओवर डाले और जूड़े में ताजे फूल लगाये घर के भीतर से निकली और वियर्ड रोग से कनाट प्लेस की ओर चली गयी ।

उसके पीछे-पीछे पूँछ हिलाता हुआ भूरे रंग का भवरे बालों वाला कुत्ता ‘मिकी’ सड़क तक दौड़ गया, अपनी मालकिन को विदा देने । लौटकर मिकी बाहर बरामदे में बैठ गया । इस घर के मालिक से बिल्कुल निस्संग, पूर्ण अपरिचित ।

मिकी को इस घर में आये अब पाँच महीने हो गये हैं । यह मिकी अश्विनी का कुत्ता है । यह इस परिवार में केवल दो को जानता है—अपने मालिक अश्विनी और इस मालकिन हेमन्ती को । मनहर इसके लिये बिल्कुल पराया और बिना किसी सम्बन्ध का है । मिकी बहुत ही प्यारा कुत्ता है । जी करता है, अंक में भरकर इसके गले में अपनी आँखें छिपा ली जायें । मिकी को हेम दूध और बिस्कुट खिलाती है । इसके भवरे खूबसूरत बालों को ब्रुश करती है । इसे रोज अपने टेल्कम पाउडर से पफ करती है । इसके लिए निवार का छोटा-सा पलँग, रेशमी गद्दा और लिहाफ है । मालकिन की तरह मनहर को जैसे यह भी नहीं चाहता । उससे कोई जान-पहिचान नहीं रखता, न यह मनहर को देखकर प्यार करता है, न दौड़कर उसके पास जाता है । मनहर जब कभी अपनी निपट उदासी और अकेलेपन में इसे ‘मिकी’ कहकर बड़े दुलार से पुकारता है तो यह अपने सोफे पर बैठे-बैठे महज उसकी ओर निहार कर रह जाता है और इसकी पूँछ काँप कर रह जाती है ; मानो वह मूक स्वर में कह रहा हो, ‘थैंक यू वेरी मच, बट आइ एम सॉरी !’

यही मिकी हेम को बाहर से आते देखते ही उसके आगे ‘चिऊँ-

मिऊँ’ करके नाचने लगता है और उसका तब तक घर में घुसना मुश्किल कर देता है जब तक कि वह इसे अपनी गोद में न उठा ले ।

तब हेमन्ती कहती है, ‘मिकी डियर, बहुत जल्द मैं तुम्हारे मालिक के घर चलींगी । कार पर हम दोनों आगे बैठे होंगे, और पिछली सीट पर तुम बैठे होंगे । पीछे गाड़ी में मेरा होल्डाल, अटैची और मेरे दो बक्से रखे होंगे, और कार के भीतर सिर्फ हम तीनों होंगे । तब अपनी बहार होगी न । क्यों मिकी डीयर ! अपनी बहार !’

कहती-कहती हेमन्ती ड्राइंगरूम में नाच उठती । उसकी गोद में मिकी का मुँह खुला रह जाता और वह दूर बैठे हुए मनहर को भी देख लेता । हेमन्ती अपने में जैसे बेसुध, मिकी के साथ ही धीरे-धीरे बाल डांस करने लगती । आल्प्स का आर्केस्ट्रा तेज बजते-बजते एका-एक बीच ही में टूट जाता और उसकी घायल सिम्फनी डांसिंग फ्लोर पर गिरकर चकनाचूर हो जाती । पर नहीं, दूसरा आर्केस्ट्रा अगले दिन टेवर्न होटल में बजता । हेमन्ती और अश्विनी डिनर के बाद की कॉफी पीकर खत्म भी नहीं कर पाते कि ‘पेपनेना’ का आर्केस्ट्रा बज उठता । डांसिंग फ्लोर पर अपनी सीट से ही नृत्य करते-करते पहुँचने वाला पहला जोड़ा हेम और अश्विनी का होता । हेम सफेद साड़ी में होती और जूड़े में मोतिया के गुच्छे । अश्विनी भूरे रंग के सूट में होता और सफेद कमीज पर काली टाई । हेम फाक्सट्रा नाचकर जब अश्विनी के अंक से लग जाती तब अश्विनी को वह टाई उड़कर हेम के मुख को छू लेती । तब हेम उससे अलग होकर थिरक उठती मानो पियानों का एक बहका हुआ स्वर हो !

मनहर ने कई बार वह दृश्य देखा है, बल्कि हेम और अश्विनी ने स्वयं उसे दिखाया है । मनहर तब कॉफी के प्याले पर प्याला पीता हुआ न जाने क्या-क्या देखने लगता !

वह देखने लगता कि दरयागंज में एक लेखराम रोड है । वे बीते ए तीन वर्ष और भी अधिक बीतकर मानो असंख्य वर्ष हो गये हों !

४४ * हेमन्त ऋतु

मनहर मानो उन वर्षों रूपी पाल को खींचता हुआ अपनी किशती को तूफान से बचाने को कोशिश कर रहा हो ! डांसिंग फ्लोर के मंच पर बजते हुए आर्केस्ट्रा का वह स्वर, उसके भीतर उभरती हुई उसकी सिम्फनी एक नन्हीं परी की तरह सिमटकर उसके पास वाली सूनी कुर्सी पर चुपचाप बैठ जाती है और उससे बातें करने लगती है ।

हाँ, तो वह लेखराम रोड ?

उसी में हेमन्त के पिता राय रामचन्द्र गुप्ता, कश्मीरी गेट पर उनकी प्लाइवुड की बहुत बड़ी दूकान ; हेमन्ती का बड़ा भाई शंभूनाथ—मेरे साथ दिल्ली यूनिवर्सिटी में ! मेरा जिगरी दोस्त ! हेमन्ती की माँ का स्वर्गवास बहुत पहले ही हो गया था, जब शंभू आठ वर्ष का था और हेम चार साल की । राय रामचन्द्र ने दूसरी शादी की तो उस नयी बीवी से चार बच्चे हुए । तीन लड़की और एक लड़का । मैं अक्सर शंभू के घर जाया करता था और उसके कमरे में बैठकर हम दोनों घंटों बातें किया करते थे । मेरा हेम के साथ उतना ही परिचय था, जितना किसी दोस्त की बहन के साथ किसी सभ्य आदमी का परिचय हुआ करता है । मुझे हेम के विषय में सिर्फ इतना ही ज्ञात था कि वह एक बहुत ही सीधी और नेक लड़की है—सभ्य, सुसंस्कृत और इन्द्रप्रस्थ कालेज के हिन्दी आनर्स की छात्रा ।

सहसा आर्केस्ट्रा बन्द ! अकेला ड्रमर बहुत तेजी से ड्रम बजाता रहता है । हाल के बीच की बत्तियाँ एक-एक करके बुझने लगती हैं । दूर किनारे पर सामने से रंगीन वेवीस्पाट की सतरंगी रोशनी डांसिंग फ्लोर पर बिखर जाती है ।

मनहर के बगल में कुर्सी पर बैठी सिम्फनी की वह अदृश्य नन्हीं परी न जाने कहाँ चली जाती है और डांसिंग फ्लोर पर सहसा आँधे का छा जाता है ! आर्केस्ट्रा बहुत तेजी से बज उठता है और पियानो पीछे से कोई गाने लगता है । 'डिमर' से रोशनी हल्के-हल्के उभरने लगती है और डांसिंग फ्लोर पर जैसे पूर्णमासी का चाँद निकलने लगता

है । 'यह है फ्रांस की नर्तकी डेनिल । डोरिस' संगीत धिरता हुआ हॉल को अपने आप में भर लेता है ।

एकाएक मिकी भूँकने लगता है । मनहर लॉन से घूमता हुआ बाहर सड़क पर चला आया है । इसी समय सात बजने को हैं । हवा में बड़ी सर्दी है । कल रात कहीं बर्फ गिरी है—शायद कश्मीर में, शायद शिमले में, नहीं, नहीं, इस दिल्ली में । दरयागंज से वह आँधी उठी होगी और नई दिल्ली के इस वियर्ड रोड पर बर्फ गिराकर चली गयी होगी, रातरानी और गंधराज को रौंदती हुई ।

मनहर अकेला वियर्ड रोड पर चला आया है । वह आज भी अपनी दूकान पर नहीं गया । 'मिश्रा वाच कम्पनी' खुली तो होगी ही । मैनेजर है, तीन-चार सेल्समैन हैं, कई मेकेनिक और मनहर का छोटा भाई विनोद भी वहाँ बैठा होगा । कनाट प्लेस में जहाँ वह 'मिश्रा वाच कम्पनी' है, उसी के ऊपर विनोद अपनी पत्नी मुधा के साथ रहता है । तीन बच्चे हैं उसके । पिताजी ने अपनी कार उसी को दी है । मनहर तो स्वर्गवासी पिता की आँख में आबारा, कुलच्छुनी और अधर्मी था । वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण होकर एक गुप्ता परिवार की लड़की से शादी करने के लिए पागल हो गया । "कर तो यह शादी ! सुन ले कान खोलकर ! मैं आज से तेरे हाथ का लुआ पानी नहीं पियूँगा । तेरा मेरे घर में आना-जाना बन्द । विनोद के घर भी तू नहीं जायेगा । अपनी हेम परी को अपने ही मुँह में रखकर उसे चाट ! छिः तूने कान्यकुब्ज ब्राह्मण समाज की नाक काट दी !" उसी वर्ष दिल के दौरे से मनहर के पिता का स्वर्गवास हो गया था ।

मनहर आज कई दिनों से दूकान पर नहीं गया है । दूकान से आदमी आता है, उसी को सब कुछ समझा देता है । भाई का टेलीफोन आता है, मनहर संक्षेप में उसका उत्तर दे देता है ।

वियर्ड रोड से इस समय भी मनहर सुन रहा है, ड्राइंगरूम में टेलीफोन की घंटी बज रही है और मिकी भूँक रहा है । इस समय वह

टेलीफोन निश्चय ही दूकान से छोटे भाई का होगा। पर, अब क्या होगा इस टेलीफोन को उठाकर ? जाने दो। टेलीफोन शांत हो गया। मनहर आँख उठाकर सड़क से अपने सूने घर को देखता है। सिर्फ बाहर एक हल्का-सा बल्व जल रहा है, भीतर चारों ओर अंधकार ही अंधकार है। सूने बरामदे में मिकी चुप बैठा है।

दूर, कर्नाट प्लेस से दूर, दरयागंज से दूर, इस दिल्ली से दूर का वह नीला आकाश कितना अच्छा लग रहा है ! उसके दामन में कई सितारे चमक रहे हैं। सहसा वियर्ड रोड पर कपकपाती एक करारी हवा का भोंका वह निकला। ऊपर पीपल के पत्ते खड़खड़ा उठे, नीचे फुटपाथ पर जमे पीपल के पीले पत्ते आपस में लड़कर शोर मचाते उड़ चले। कल रात की आँधी में जब पीपल के ये पीले पत्ते अपनी हरी डाल से टूट-टूटकर तेज हवा में मधुमक्खियों की तरह उड़े थे तो मनहर को ऐसा लगा था, कि कल यह नई दिल्ली पीपल के इन्हीं पत्तों से ढँक जाएगी। दो दिन में जब ये पत्ते सूख जायेंगे और लोग इस पर चलेंगे तो इनमें से कैसी एक दौड़ती हुई आवाज आयेगी !

सहसा पीपल का एक हरा पत्ता—बिल्कुल नाजुक, हरीतिमा से सराबोर, वृक्ष से मानो रूठकर मनहर के कंधे पर आ गिरा और उसके कंधे पर बैठा ही रह गया। मनहर को यह स्पर्शहीन स्पर्श, वह बोझहीन बोझ अपने कंधे पर बहुत ही अच्छा लगा, जैसे वह कोई दुधमुँहा शिशु हो और उसके कानों में कह रहा हो, “पा……पा……पा……पा !”

मनहर ने घूमकर अपने सूने घर की ओर देखा—उस दृष्टि से, जिसमें वह अर्थ हो कि आज मैं इस घर को सदा के लिये छोड़ दूँगा। तभी मनहर को हेम के बड़े भाई शंभू की याद आई।

लेखराम रोड पर, गर्मी के वे शुरू के दिन। एक दिन संध्या समय मनहर जब शंभू के कमरे में घुसा तो देखता है कि शंभू कुर्सी पर बैठा, टेबुल पर पैर फैलाये, निःशब्द रो रहा है, रोता चला जा रहा है। सामने की अलमारी में उसकी स्वर्गीय माँ का चित्र है और बगल में

हेम का फोटो, जिसे अभी पिछले वर्ष मनहर से हेम की उन्नीसवीं वर्ष गाँठ पर खिंचाया था। उस चित्र में हेम का वह रूप गुलदावदी के छोटे पुष्प की तरह सुन्दर कोमल और पवित्र था।

“शंभू, शंभू ! क्या बात है ? अरे, इस तरह रो क्यों रहे हो ?” शंभू भरी आँखों से इसे देखता रह गया था।

“क्या बात है ? मुझे बताने लायक नहीं है क्या ?”

शंभू फिर भी चुप ! उसके ओठ काँप-काँप कर रह गए। उसने बताया, हेम की पढ़ाई पिताजी ने छुड़ा दी।

“अरे !”

“हाँ ; और हेम आज दो दिन से कमरे में बंद है !”

“आखिर क्यों ? ऐसा भी क्या अपराध ?”

“सुनो तो !” शंभू धीरे-धीरे बताने लगा, “सात महीने पहले की बात। एक दिन हेम अपने कमरे की खिड़की खोले हुए सामने देख रही थी दाऊदयालजी के बंगले में एक खुली खिड़की की ओर। यद्यपि वह खिड़की सूनी थी, पर उसी समय माँ ने हेम के कमरे में चुपके से पहुँच कर क्षण भर बाद ही कहा—कुलच्छनी कहीं को ! बड़ी सीधी और नेक बनती है। तुम जैसी लड़कियाँ इसी तरह माँ-बाप की आँखों में धूल भोंकती हैं ! मेरा शक आज सच निकला !”

माँ की आवाज सुनकर पिताजी जी हेम के कमरे में चले आये थे। उस समय शंभू भी संयोग से घर ही में था। माँ ने पिताजी से अजीब गंदा जवान में कहा, “यहाँ इश्क चल रहा है बेटी का ! देखो, यह खिड़की और सामने की खिड़की। जब से दाऊदयालजी का एक-लौता लड़का अश्विनी जर्मनी से इन्जीनियरिंग पढ़कर लौटा है तब से ये दोनों खिड़कियाँ रात दिन खुली ही रहती हैं !”

माँ की इस बात से हेम फर्श पर बर्फ की तरह जमी खड़ी रह गयी थी, आवाक, निस्तेज, प्राणहीन-सी और संज्ञा शून्य। हेम के लिये माँ की यह बात बिल्कुल नयी थी—सर्वथा अनुभवहीन ! हेम

का पिछला सारा जीवन सादगी तथा परिश्रम में बीता था। कक्षा में बीता था। कक्षा में वह सदा फर्स्ट आती थी। उस दिन पढ़ते-पढ़ते उसका मन उकता गया था और वह खिड़की खोल कर कुछ जर्णों के लिये महज बाहर की खुली हवा ले रही थी। उसे तो आज पता चला कि दाऊदयाल के कोई लड़का अश्विनी भी है। अश्विनी को भी शायद ही पता हो कि इस सामने के घर में कोई लड़की हेम भी रहती है! ओह, माँ ने आज ऐसा क्यों कह दिया!

शायद इसीलिए कि हेम इतनी सरल, सीधी और गंभीर है। और अब वह शादी के योग्य है, और यह भी कि वह हेम की नयी माँ है! पिता ने, शंभू ने और भी लोगों ने माँ का विरोध किया कि उसकी धारणा हेम के प्रति सरासर गलत है, पर माँ थी कि अपनी बात पर जमी हुई। सीधी, गंभीर हेम पर इस घटना की अजीब प्रतिक्रिया हुई। अब वह न सिर्फ अपनी खिड़की खुली रखने लगी बल्कि सुबह-शाम सामने वाली खुली खिड़की की ओर देखती भी रहती।

पिता जी ने विवश होकर हेम को घर से हटा कर मेरे अंकिल के यहाँ रख दिया। देव नगर के गवर्नमेन्ट क्वार्टर्स में वे अकेले रहते थे। घर में टेलीफोन था। अंकिल सप्लाई आफिस में सुपरिंटेंडेंट थे।

मनहर वहाँ हेम को समझाने जाता। पहले तो वह कहती-कहती फफक कर रो पड़ती कि मैं अगर इतनी सीधी और शरीफ न होती तो आज मेरी यह दशा न होती। पर बाद में वही हेम जैसे कुछ कठोर होती गयी। वह चुपचाप अंकिल के घर बैठी रहती। न पढ़ती, न किसी से बोलती। एक दिन मनहर ने उससे पूछा, “हेम, तू क्या सोचती रहती है? क्या तुझे मुझ पर भी विश्वास बहीं?” यह सुन कर उस दिन हेम इसके गले लग कर बेतरह रोयी और इसे भी रुला गयी। फिर बोली, ‘हिन्दी आर्ट्स की मेरी सहेलियाँ मुझे अब बिल्कुल पसन्द नहीं हैं। मुझे वे अंग्रेजी आनर्स की लड़कियाँ अब याद आती हैं जो मुझे बुद्धू किताबी कीड़ा और सती सावित्री, अनसुइया कह कर

मेरा मजाक उड़ाया करती थीं। वे ही मिस गुरुवचन, वह मिस खन्ना, प्रिया गुप्ता, डोरिन विडा और वह मार्था किंग्सले.... जो सीनियर कैम्ब्रिज पास होकर आती हैं.....जिनके बचपन की शिक्षा कावेन्ट में होती है। जो सब कुछ खुले आम करती हैं और आइने की तरह सब से साफ रहती हैं, न फिफक, न संकोच, न.....”

उस हेम को माँ ने एक अजीब चोट दे दी थी। उसका सारा विश्वास ही धायल हो गया था। वह अपरिचित, अनजान, अश्विनी के घर टेलीफोन करने लगी। कभी-कभी उसे खत लिखती। एकाध बार वह अंकिल के घर से अश्विनी के घर भी गई।

मनहर भी हेम को संग लिये अश्विनी से मिला, एक बार नहीं, कई बार। यह गंभीर और तटस्थ, जैसे हेम से उसका कोई लगाव नहीं। हेम की चोट अब दोहरी हो गयी। चोट भी, अपमान भी। अंकिल भी हेम से आजिज आ गये। और हेम.....”

मनहर के कंधे पर बैठा हुआ पीपल का वह पत्ता सहसा उड़ गया। हवा में नहीं, नीचे फुटपाथ पर, जहाँ पीले पत्तों का ढेर लगा था। उसी ढेर में वे पत्ते हवा के भोंकों के साथ आपस में लड़ने लगते थे। सूने बरामदे से फिर मिकी के भूँकने की आवाज आने लगी। टेलीफोन की घंटी फिर बज रही है। सामने गोल मार्केट से कोई नयी कार आ रही है। बड़ी तेज है उसकी रोशनी। कार फूल मालाओं से सजी है। ऊपर और पीछे रंग-विरंगे बैलून बंधे हवा में उड़ रहे हैं। किसी चर्च में ब्याह करके क्रिश्चियन दूल्हा-दुल्हन उस कार में सर से गुजर गये। मनहर पीछे घूमकर कार के इर्द गिर्द उड़ते हुए बैलूनों को देखता रह गया। कार के पहियों के नीचे पीपल के सूखे पत्ते चरमरा कर शान्त हो गये।

मनहर हवा में उड़ते हुए पीले पत्ते की तरह निरुद्देश्य घूमता हुआ आगे बढ़ रहा था। उसके सामने आज भी शंभू की वे करुण आँखें विछी हुई हैं।

‘क्या होगा मन् ? सोचो कुछ ! हेम को आज भी उन्होंने कमरे में बंद कर रखा है। कोई उपाय बताओ।’ मनहर की आँखें शंभू की आँखों से बंध गयीं। मनहर दूर आकाश को देखने लगा। दूर आकाश, कमरे से बाहर खिड़की के रास्ते नहीं, बल्कि सामने अल्मारी में रखे हेम के चित्र के पीछे, जो निरभ्र आकाश है, उसे। कितना निरपराध, पावन और शान्त है यह आकाश ! सारा आकाश, चित्र का भी, और हेम की उन बड़ी आँखों के भीतर का आकाश !

शंभू भरी आँखों से कह रहा है, “वे लोग चटपट ही हेम की शादी कर देना चाहते हैं। प्रतिहिंसा और खीभ भी है, इस नादान लड़की पर !”

मनहर बढ़ता हुआ अन्नपूर्णा मिठाई की दुकान के सामने पहुँच गया। वहाँ भोड़ है केवल पति-पत्नियों की, विशेषकर नवदम्पतियों की। प्रसिद्ध बंगाली मिठाई की दुकान है, यह अन्नपूर्णा। यहाँ कहीं भी सड़क पर कोई पीपल का पेड़ नहीं। कहीं भी उन खड़खड़ाते हुए पत्तों का शोर नहीं। शंभू की आँखों के आँसुओं का एक सागर बन गया। चाँदनी रात, शायद पूर्णमासी है, फिर भी सागर में ज्वार नहीं। सब कुछ शान्त है। मनहर सोने की एक नाव पर हेम को बैठाकर उसके गले में पुष्पहार डाल रहा है।

मनहर हेम को दुल्हन बनाकर अपने घर लाता है। वह उससे दूसरे ही दिन कहती है, “क्यों की मुझसे शादी ? मैं तो कुलच्छनी हूँ। मैं तो अश्विनी से प्रेम करता हूँ ! मैं तो अश्विनी से प्रेम करती हूँ ! तुमने क्यों.....”

“हेम !” मन् ने उसके तप्त मुख पर अपना हाथ रख दिया था। “नहीं, मैं हेम नहीं हूँ ! मैं हेमन्त हूँ। हेमन्त।”

तब से आज तीन वर्ष पूरे होने को आए। मनहर के घर में, उसके आकाश में केवल पौष और मार्गशीर्ष छाये थे। ये दोनों काँपते गात से वहाँ बिछे बैठे हैं। हेमन्त ऋतु तब से एक क्षण के लिये भी नहीं

सरकती कि आगे फागुन आये। चैत-वैशाख की गुलाबी हवा का एक स्पर्श ही मिले ! नहीं, नहीं, नहीं !

फागुन बीते आज कितने दिन हुए ! वह फागुन आज तक नहीं लौटा। मनहर के सीने में वही हेमन्त की कँपकपाती हुई ठंड, वह बर्फाली रात भर बहने वाली आँधी, और आसमान में घुमड़ कर रह जाने वाले बादल सब चपेट मार रहे हैं।

मनहर और हेमन्त को एक साथ बैठते, बोलते, अथवा संग-संग जाते आज तक किसी ने न देखा।

मनहर संध्या समय जब मद्रास होटल के सामने से गुजरता हुआ अपनी दूकान की ओर जाता है, तो उसी समय हेम अश्विनी के साथ गोलार्ध में हँसती हुई प्रवेश करती है। जब यह दूकान से थका हुआ अपने घर आता और बंद कमरों को खोलता हुआ उनमें रोशनी करता है ; उस समय हेम और अश्विनी हुमायूँ के मकबरे के पीछे टैरेस पर बैठे हुए जमुना की ओर देखते होते। चारों ओर चाँदनी ही चाँदनी बिछी होती। मनहर के लिये सूना घर, खामोश वियर्ड रोड, तटस्थ मिकी, पीपल के वे पीले पत्ते और हेमन्त ऋतु की वह बर्फाली हवा। हेम के लिए छः ऋतुएँ, पूरी दिल्ली, पालम से राजोरी गार्डन, आल्प्स से राजघाट, हुमायूँ के मकबरे से कुतुब और ओखला से सुजानसिंह पार्क, उधर यूनिवर्सिटी के पूरे जमुनातट तक !

रात के दस बज गये। मनहर तेज कदमों से अपने घर लौटा। बाहर का फाटक खोलकर जब वह अपने घर के लॉन में घुसा तो उसने देखा पीपल के दो सूखे पत्ते बरामदे की सीढ़ी के नीचे उड़ रहे हैं। उसे लगा वर्षों की वह हेमन्त ऋतु अभी बीती है और उसकी याद में पीपल के ये दोनों आखिरी पत्ते उड़े जा रहे हैं।

मनहर अपनी अटैची लिये हुए उस सूने घर से तेजी से बाहर निकलने लगा। देहरी पर आकर वह रुक गया। मिकी आज रास्ता रोके खड़ा है। वह बेतरह पूँछ हिलाता हुआ ‘चिऊँ-चिऊँ’ करके

रास्ता रोक रहा है। तेज कदमों से दायें-बायें घूमकर नाच रहा है। क्या हो गया अचानक इस मिकी को ? यह पागल तो नहीं हो गया ? इसे किसी जानवर ने काट तो नहीं लिया ? या अकस्मात् इसे कोई रोग हो गया क्या ! “मिकी ! हटो सामने से !”

मिकी मनु के कदमों पर बिछ गया।

“भागता है कि नहीं !”

मिकी को क्या हो गया ! वह आज इस तरह रास्ता क्यों रोक रहा है ? सहसा मेरे प्रति इतना अनुराग, इतनी ममता और प्रेम कहाँ से बरस गया ? यह तो एकटक मेरी आँखों की ओर देख रहा है ! “मिकी दूर हो जा मेरी आँखों के सामने से ! ठंडा दुश्मन कहीं का ! ! आज जब हेमन्त ऋतु बीत गयी, तब तू मेरे पास आया है ! इससे पहले कहाँ था ?” मिकी मनहर के चरणों पर बार-बार बिछ रहा है, भूँकता है, दौड़ता है, गाता-रोता है और रास्ता रोके खड़ा है। मनहर मिकी को अपने पैरों से मारने लगा। पर मिकी पर कोई प्रतिक्रिया नहीं। वह मनहर के पैरों पर लोटता हुआ अपने आगे के दोनों पैरों को उठाकर जैसे प्रणाम कर रहा है और कह रहा है, ‘रुको, रुको, माफी दो, हमें मालिक। रुको, रुको मैं तुम्हें इस तरह नहीं जाने दूँगा !’

मनहर ने अटैची से अपनी पिस्तौल निकाल ली। अब वह मिकी पर फायर कर देगा। ‘खबरदार खबरदार ! मिकी दूर हट जा नहीं तो यह……’

उधर दूसरी दुनिया में और भी ज्यादा आवेश और क्रोध में उसी समय हेम अश्विनी को आग्नेय दृष्टि से देखती हुई कह रही थी, “नीच ! क्या समझ रखा था तूने मुझे ! मेरे शरीर पर इस तरह हाथ लगाने चला था ! मैं क्या हूँ, तुम्हें पता भी है !”

हेम अपने दायें हाथ में एक बड़ा पत्थर उठाये जैसे अश्विनी के

मुख पर मारने के लिये तनी खड़ी थी। हुमायूँ के मकबरे का वह टूटा फूटा टैरेस, दायीं ओर पत्थर की टूटी हुई दीवार, किले का भग्न अंश। हेम उस सूनी रात में वहाँ खड़ी हुई कोई अत्यन्त प्राचीन ‘टेराकोटा’ लग रही थी—जिसका युग, काल और प्रकृति का अन्दाज और मूल्यांकन करना असंभव था।

रहस्यमयी ‘टेराकोटा’।

इधर मनहर की पिस्तौल उसके हाथ से काँपकर चुप गिर गयी। उठाने के लिये वह नीचे झुका तो मिकी सहसा उसकी गोद में आ गया।

मिकी को गोद में लिये उसी तरह मनहर घर के फाटक से बाहर आ गया।

“टैक्सी, रुको !”

बायीं ओर से तेजी से आती टैक्सी उसी क्षण रुक गयी। उसमें से विजली की तरह हेम निकली। फाटक के किनारे मेंहदी की झाड़ के पास एक किनारे चुपचाप मनहर खड़ा था। दायें हाथ से गोद में मिकी को टहलाते हुए, बायें हाथ में अटैची लिये, जाने के लिये तत्पर !

मनहर तेजी से टैक्सी में बैठने लगा। तभी हेमन्ती ने द्रवित स्वर में कहा, “सुनो ! मुझे अपने साथ नहीं ले चलोगे ?”

वैरागी मनहर ने देखा, हेम रो रही थी। क्यों ? आखिर आज सहसा क्या हो गया ? सच, हेमन्त ऋतु बीत गयी क्या ? पूस और माघ दोनों ! आगे चमकते नीले आकाश के नीचे फागुन की वह सुबह अपने संजोये हुए स्वप्नों से क्षितिज को छूती हुई !

मनहर ने फिर देखा, हेम रो रही है। उसका माथा उठा हुआ है और आँखों से भरते हुए आँसुओं में बीता हुआ हेमन्त अपने पौष-गान को बुला रहा है।



रेलगाड़ी

अंग्रेजी राज में जिसने अकबरपुर रेलवे लूप लाइन पर यात्रा नहीं की, उसका जनम अकारण ! वह क्या जाने रेलगाड़ी का मजा ! कुल तीस मील लम्बी वह लूप लाइन, जिसके दोनों तरफ घने गाँव और आम की बगिया। उसके बीच से वह टाँडा वाली रेलपरी जब अपनी पटरी पर शरमा-शरमा कर पायल धुँधरू सँभालती हुई अभिसारिका की तरह चलती, तो दोनों ओर से न जाने कितने हँसते-विहँसते नयन यात्रियों को बरबस छू-छू जाते। ऊपर से गीत, उलारे, मजाक, हँसी-दिल्लगी ! 'भारे रौ महंगुआँ !' बगियन के बीच से जब वह रेलगाड़ी भ्रमक कर चलती तो लगता जैसे बगियन में विदेसिया की नाच है रही है।

और उस पूरी रेलवे लाइन पर केवल दो स्टेशन—अरिया-कटरिया और सूरपुर। अरिया-कटरिया कस्बे से सूरपुर का कस्बा बड़ा था। धन में, व्यापार में और नाम इज्जत में भी। पर उन्नीस सौ बयालिस में जब सहसा एक दिन वह रेलवे लाइन टूटी, तो इसकी सबसे बड़ी चोट सूरपुर के दिल पर लगी। बेचारा तहस-नहस हो गया वह सूरपुर। जिस दिन वह सूरपुर का स्टेशन उजड़ा, उन्हीं दिनों

सूरपुर में लगातार तीन डाँके पड़े। और वह कस्बा सहसा उजड़ गया। अनाज के बड़े-बड़े व्यापारी अपने घर छोड़, शहजादपुर भागे। हकीम, वैद्य, मौलवी लोग अकबरपुर चले गये। कपड़े वाले, किरानी और कारीगर टाँडा जा बसे। बस कुशल इतना ही हुआ कि सूरपुर के बीचो-बीच वह जो टाँडा अकबरपुर वाली पक्की सड़क थी न, बस उसी के सहारे वह बचा हुआ शेष कस्बा किसी तरह अपनी जगह खड़ा रह सका।

कस्बे के प्रायः सभी अच्छे धनी-मनी लोग वहाँ से छोड़कर इधर-उधर चले गये, पर वे चार लोग उस जगह की मिट्टी से लिपटे रह गये। पहला नम्बर हरमुनियाँ मास्टर हिरामनी का। दूसरे मिस काल्टन 'मिडवाइफ'। तीसरा वह सोनार बाबू और चौथे वह खजांची राम चाट-मिठाई वाला।

उदास सूरपुर के भीतर कभी-कभी सूनी रात को हिरामनी मास्टर जब अपनी हरमुनियाँ छोड़ कर, उस पर अपनी आलाप देता, और उस पर जब उसके अन्धे भाई राजूठाकुर की ढोल बजती, तो ऐसा लगता जैसे सूरपुर के सारे खंडहर उस सुरताल में भूम उठे हैं। सड़क की दोनों पटरियों पर रुकी हुई बैलगाड़ियों के गाड़ीवान, ऊँटवान, मुसाफिर और इक्के वाले उसके चारों ओर मधुमक्खी की तरह घिर आते—तब हिरामनी मास्टर आलाप तोड़कर वह दादरा गाता :

मोरी तोरी लागी नजरिया हो

सुनो बाँके यार !

जब लागी तब केऊ न जाने

अब जाने सारी नगरिया हो

सुनो बाँके यार !

और देश आजाद होते ही पहली पंचवर्षीय योजना में जब यह रेलवे लाइन एक दिन फिर चालू होने लगी, तो उस देश-जवार में

इसकी खुशी का कोई ठिकाना न रहा। सूरपुर में रेलवे इंजीनियरिंग स्टाफ के तम्बू और छोलदारियाँ लग गयीं। जाने कहाँ-कहाँ के हाकिम बाबू लोग यहाँ आकर टिके। कुली, मजदूर, बेलदारों के झुण्ड से यह सारी जगह गमगमा उठी। खंडहर भी किराये पर उठने लगे। दिन-रात ठेकेदारों की ट्रकें टाँडा अकबरपुर वाली सड़क पर दौड़ने लगीं। और देखते-ही-देखते सूरपुर का सारा नक्शा ही बदलने लगा। खंडहर फिर आबाद होने लगे। पुराने घरों की जगह छतदार घर बनने लगे। किराये के मकान भी होते हैं—इसे पहली बार सूरपुर ने जाना।

सूरपुर के अंक में एक हायर सेकेण्ड्री स्कूल, एक छोटा-सा अस्पताल, एक नलकूप विभाग। पी. डब्लू. डी. की एक छावनी। एक पुलिस चौकी, जिसमें एक थानेदार, एक हेडकाँस्टबिल, छः सिपाही। एक बीज भण्डार। उसके पास ही सहयोगी समिति का एक दफ्तर।

फिर क्या था, सड़क के दोनों तरफ किनारे-किनारे चाय नाश्ता की कई दूकानें खुल गयीं। 'लाण्ड्री'; 'हेयरकटिंग सैलून', 'जूते की दूकान'। गाँजा, भाँग के ठीकेदार की दूकान। ये जाने कहाँ-कहाँ के लोग उड़-उड़कर सूरपुर आ गये—और सूरपुर वालों ने मारे हहक के उन्हें अपने बीच बसा लिया। वे पहले के सूरपुर वाले—छोड़कर भागे हुए वासिन्दों को वापस आते देखकर भगवान की जै जैकार बोलते और नये आने वालों को देखकर जैसे उसके लिए अपनी भूखी बाँहें फैला देते और उनकी प्यासी आँखों में निःशब्द यह उभर जाता। 'आ! जिन्दगी आ! ओ री नयी जिन्दगी! आ मेरे ही घर में बस जा!' न जाने कहाँ-कहाँ के अपरिचित लोग!

जौनपुर की ओर से वह रामकिशन बग्गा नामक एक व्यक्ति आया। उसने कस्बे के भीतर भटपट एक होटल खोल दिया—नाम

रखा 'पेरिस होटल'। जिसमें 'वेजीटेरियन' और 'नान वेजीटेरियन' दोनों। रहने खाने का उत्तम स्थान। सारा कस्बा बड़ी तेजी से अंग्रेजों के शब्द बोलने-समझने लगा।

'पेरिस होटल' की ही होड़ में चाट मिटाई वाले खजांची राम ने भी ठीक उसी के सामने रामरतन साहु के खलंगे में दूसरा होटल खोला। फैजाबाद से बड़ा भारी साइन बोर्ड लाकर सामने ही लगवा दिया—'आदर्श हिन्दू होटल' जिसमें एक ओर शिवाजी का चित्र लगा था तो दूसरी ओर महाराणा प्रताप का। जिसके नीचे लाल अक्षरों में लिखवा रखा था, 'अधर्मियों का नाश हो।'

रामकिशन बग्गा के होटल में चारों ओर टाँडा के हैण्डलूम वाले पर्दे लगे हैं। सुबह से रात तक उसकी दूकान पर रेडियो बजता है—फिल्मी गाने—सो खजांची राम परेशान!

पर एक दिन जब उसने देखा कि सूरपुर के बड़े साहु कपुरी महाजन भी फैजाबाद से अपना डेरा-डण्डा लिये हुए अपने घर लौट आये हैं, तो वह खुशी से फूला न समाया।—बड़ा रेडियो वाला बनके आया है। अब मेरे कपुरी महाजन आ गये हैं, सो अब एक रेडियो नहीं सात रेडियो वह लगा सकता है अपने आदर्श हिन्दू होटल में। क्या समझ रखा है इस पेरिस होटल वाले ने अपने आपको!

सोनार बाबू को जमानतदार बनाकर खजांची राम ने कपुरी महाजन से तीन सौ रुपये किस्त पर उधार लिये। किस्त भी केवल दस महीने की। और उसी धन से खजांची राम ने रेडियो खरीदा। एक ओर पेरिस होटल का रेडियो दूसरी ओर आदर्श हिन्दू होटल का। अब होड़!

खूब गर्मागर्म! पेरिस होटल की चाय के क्या कहने! और इसके खाने। वाह-वाह! ममरेसपुर के बाबू साहब और अरिबा के नवाब साहब के भी यहाँ ऐसा मुरगन गिज़ा नहीं बनता रहा होगा!

पर खजांची राम अपनी दूकान से चिल्लाकर कहता है, "हाय रे

हिन्दू धर्म ! तुम्हें लोग रसातल में भेज रहे हैं । अधर्मियों का नाश हो । जिस होटल में हमारे प्यारे भाई लोग भोजन नाश्ता करने जा रहे हैं, वहाँ भीतर जाकर जरा देखें तो सही—वहाँ का भण्डारी है मुसलमान, परोसने वाले हैं चमार, पासी के लौएडे ! और....”

पर खजांची राम की बात पर तनिक भी कोई ध्यान नहीं देता । लोग पेरिस होटल से अपने अँगोछा, धोती में मुँह पोछते हुए बड़े मौज से बाहर निकल आते हैं ।

खजांची राम की समझ में कुछ नहीं आता कि यह सब क्या हो रहा है ? क्यों हो रहा है ?

जिस दिन टाँडे से पहली नयी रेलगाड़ी खूब सज-धज कर अक्रबरपुर के लिए खाना हुई, उस दिन उस पर सारे मुसाफिर बिना टिकट बैठायें गये । दोनों स्टेशनों को सजाया गया । रामकिशन बग्गा ने उस दिन बिना दाम के यात्रियों को चाय पिलायी । रात को सर्रापुर स्टेशन पर बड़ा सुन्दर मजमा लगा । आस-पास की सारी जनता वहाँ फट पड़ी । कारन, ममरेसपुर की वह पर्दानशीन हीराबाई पहली बार वहाँ उत्सव में आयी थीं, साथ में वही हिरामनी मास्टर ! संगत में उसका वही हरमुनियाँ ! वही पूर्वी धुन !

हीराबाई को वहाँ इस तरह लाने का श्रेय उसी कपुरी महाजन को था ।

हीराबाई ! नीचे से ऊपर तक सफेद रेशमी वस्त्र में । गम्भीर । जैसे किसी ऊँचे घराने की बहू-बेटी । अवस्था बस यही तीस के आस-पास बड़ी-बड़ी उदास गम्भीर आँखें । शुभ मुख । थानेदार, रेलवे इंजीनियर, डाक्टर, हाकिम और सबसे ऊपर उस कपुरी महाजन के बहुत कहने-मनाने पर हीराबाई ने सिर्फ दो गाने गाये थे—पहला कबीर का भजन, राग भैरवी—ताल तेवरा—‘मत कर मोह, हरिभजन को मा

रे ।’ दूसरा मीराबाई का भजन, राग मालकोस—ताल तिताला—‘मैं अपने सैयाँ संग साँची ! अब काहे की लाज सजनी परगट है नाची ।...’ हीराबाई ने किस दर्द से ये दोनों भजन गाये थे । सारे सद्दय रो पड़े । कैसी हरमुनियाँ बजायी थी बाई जी ने ! गोरे पतले हाथ—कलाई में सोने की चार-चार चूड़ियाँ । जादू हुई-हुई वे लम्बी-लम्बी अँगुलियाँ ! दूर गाँव कस्बे के लोग तो एकटक हीराबाई को देखते ही रह गये । वे कैसे कपुरी महाजन के ताँगे से यहाँ उतरी थीं ! कैसे सिर झुकाये, लाज-हया में डूबी हुई वे यहाँ प्लेटफार्म पर आयी थीं ! वे किस तरह से पहले-पहल बोली थीं ! कैसे उन्होंने वहाँ की उपस्थित जनता को प्रणाम किया था ! बाप रे....

आज कितने वर्षों बाद तो जनता को वह हीराबाई पहली बार उस तरह देखने को मिली थीं । नहीं तो अब तक उस कुर्वजवार के लोग उनके विषय में महज किस्से-कहानियाँ ही सुनते-कहते चले आ रहे थे....ममरेसपुर के वे बाबू सुन्दरपाल सिंह जी अपनी हीराबाई को देवी की तरह मानते हैं....अपनी हीराबाई से बिना कोई नया गीत-भजन सुने उन्हें नींद नहीं आती ।....बाबू साहेब पहले अपने सामने हीराबाई को भोजन करा लेते हैं फिर वे अपने चौके में जाते हैं ।....बाबूजी की पत्नी वह सरजू-पार वाली राजा की लड़की—वह हीराबाई के चरन छूती है....! बाबू सुन्दरपाल सिंह जी आज तक कभी एक भी सुकदमा नहीं हारे । जानते हो क्यों ? अरे, सुकदमे की तारीख के दिन वही हीराबाई बाबू साहेब के माथे पर लक लगाती है, हैं !....बाबू सिंह साहेब जब भी कभी हवेली से बाहर जाते हैं, शुभ के लिए वह अपनी उसी हीराबाई का ही मुख देखकर लते हैं ! गजब है....

और आज इतने वर्षों बाद एकाएक न जाने किस महामन्त्र या वी ताकत से इस कपुरी महाजन ने उस हीराबाई को उनकी हवेली से निकालकर यहाँ सब के सामने ला खड़ा किया है ।

ओ हो ! बाह रे जमाना ! आज जो वही बाबू सुन्दरपाल सिंह जी जिन्दा होते ! या उनकी वह रानी साहब ही होती । वह राज रियासत । जिस हीराबाई को साहेब के नाते निश्तेदार, सगे-सम्बन्धी तक कभी नहीं देख पाये थे, उसी हीराबाई को आज इस तरह इतनी आँखें घूर-घूरकर देख रही हैं ।

कारन है यही कपुरी महाजन ; इतने साल फैजाबाद रह के जो लौटा है । कैसी मीठी बातें करता है अब !

यही तो स्वर्गीय बाबू सुन्दरपाल सिंह जी का आदमी ही था । यह 'महाजन' उपाधि तो उन्हीं बाबू साहेब की ही तो दी हुई है । काम-काज में जब उन्हें रुपये घटते, तो यही कपुरी बनियाँ अंगोछे में सौ-सौ के नोट छिपाये चुपके से बाबू साहेब के हाथ में दे आता । न लिखना, न पढ़ना, महज बात और दोस्ती का धर्म ! वह बाबू साहेब भी खूब थे कि जब कपुरी को उसका धन लौटाते तो ब्याज-मूल सब एक साथ और ऊपर से बनियाँ के बाल-बच्चों को इनाम-मेंट भी ।

बाबू साहेब की उस आखिरी बीमारी में हजार-बारह सौ रुपये कपुरी बनियाँ का रह गया था; यह हीराबाई के सामने की बात है । पर दोस्ती तो दोस्ती ! धर्म तो धर्म ! कपुरी महाजन तब हीराबाई को देहरी पर माथा टेक कर बोला था, "कैसी बात कर रही हो, बहिन जी, बाबू साहेब तो मेरे भगवान थे । मैं तो उन्हीं का कर्जदार हूँ । मैं तो इस जनम में उनसे उन्मृण ही नहीं हो सकता ।"

पर यह नयी रेलवे लाइन फिर से क्या बनी, यह कपुरी महाजन फैजाबाद से कितना अनुभव बटोर कर यहाँ लौटा कि इसके कारण हीराबाई को उस पर्दे से इस तरह बाहर आना पड़ा ।

खूब महीन, फैजाबाद की धुली हुई चमाचम धोती, रेशमी कुर्ता गले में सोने की चेन, दोनों हाथ की अंगुली में जड़ाऊ अँगूठियाँ कलाई में घड़ी, पैर में नया न्यूकट, मुँह में पान, पाकिट में सिगरेट और

दियासलाई । नीचे की बंडी के भीतर चोर पाकिट में दस-दस के नोटों से भरा हुआ सुनहरा पर्स । उस दिन अपने ताँगे पर बैठकर वह सीधे ममरेसपुर गया, और धड़ाके से वह दुर्लभ्य देहरी पार करके वह भीतर जाकर बड़े तपाक से बोला, "बहिन जी, नमस्ते, स्वर्ग से बाबू साहेब मुझे बार-बार यह सपना दिखाते हैं कि महाजन, मैं तुम्हारे उस कर्ज के भार से यहाँ बड़ा परेशान रहता हूँ । एक क्षण के लिए भी मुझे यहाँ शान्ति नहीं मिलती ! महाजन, तुम जाकर मेरी हीराबाई से यह बोलो—वह मेरी शान्ति के लिए जरूर कोई न कोई इन्तजाम करेगी ।"

"हाँ, हाँ, जरूर ! मुझे इसके लिए कोई उपाय बताओ महाजन !"

यह कहते हुए हीराबाई सहज ही कपुरी महाजन के सामने सहसा आ खड़ी हुई । एक क्षण तो कपुरी की आँखें चौंधिया गयीं । फिर वह सिर झुकाये बोला, "उपाय क्यों नहीं है, बहिन जी ऋण मुक्ति के तो बहुत से उपाय हैं ।"

"बताओ न, महाजन !"

"अरे, आधा कर्ज तो इसी तरह से पट जायेगा कि आप नयी रेलवे लाइन के उद्घाटन के अवसर पर सूरपुर स्टेशन आ जायें । वहाँ कुछ सांस्कृतिक कार्यक्रम होगा, वहाँ सारे अफसर और आस-पास की जनता होगी । उसी में आपका गाना-बजाना हो जाये । लोग आपका दर्शन पा जायें ! बस...."

इतनी बात कहने में कपुरी महाजन का माथा पसीने-पसीने हो गया । हीराबाई एकटक महाजन का मुँह देखी रह गयीं ।

सूखे कण्ठ से हीराबाई बोली, "इसमें, पर तुम्हें क्या मिलेगा महाजन ?"

"मुझे ?....मुझे थोड़ा नाम और इज्जत मिल जायेगी जी !"

"नाम और इज्जत !" हीराबाई की आँखों में मालिक सुन्दरपाल सिंह जी की मूर्ति डोलने लगी । फिर वह मूर्ति आँखों में तैरने लगी । वह अशान्त मूर्ति, वह चिन्तित छवि, जो स्वर्ग में भी उस कर्ज की

वजह से बेचैन है।

“अच्छी बात है, महाजन ! मैं सूरपुर जरूर जाऊँगी।” यह कहकर हीराबाई ने अपनी आँखों के समुन्द्र को अपने आँचल में रोक लिया था।

और वह हीराबाई सूरपुर स्टेशन के चौड़े, धुले, सजे प्लेटफार्म पर उतने बड़े मजमे के बीच कपिला गऊ की तरह बैठी हुई हैं। आषाढ़ के आखिरी दिन हैं। रात का पिछला पहर धीरे-धीरे पास आता जा रहा है। हीराबाई की वह पचास वर्षीया नौकरानी रहँसा छाया की तरह हीराबाई के पास बैठी हुई धीरे-धीरे पंखा झूल रही है। हिरामनी मास्टर हरमुनियाँ बजाते हुए गा रहा है, “सारी रैनियाँ बीति गयो राजा, भोरवे भये मन लागा !....”

अपने नये घर से दूर बाजार की छोर पर कपुरी महाजन ने एक नया बंगला बनवाया था—काफी बड़ा, खूब चमाचम, सुन्दर। सामने बरामदा, भीतर तीन कमरे, फिर एक छोटा-सा आँगन। आँगन से उधर तीन बड़े-बड़े कमरे। उनमें पीछे से एक खिड़की नुमा दरवाजा।

रात के पिछले पहर जब वह कार्यक्रम समाप्त हुआ, तो कपुरी महाजन अपने ताँगे पर हीराबाई और उनकी नौकरानी को पीछे बिठाये हुए अपने उसी बंगले पर आया। वहाँ बत्ती, पानी, जलपान, भोजन, कुर्सी-मेज, नये बिछावन सहित पलंग वगैरह सब-कुछ मौजूद था। पूरी नयी गृहस्थी और वहाँ ड्यूटी पर महाजन का एक नौकर।

“यही तुम्हारा घर है, महाजन ?” हीराबाई ने ताँगे से उतरते हुए कपुरी से पूछा।

“नहीं, बहिन जी, यह आपके लिए है....मैंने सोचा आप विश्राम कहाँ करेंगी।”

“विश्राम ?”

“हाँ, बहिन जी, आप वहाँ गाँव में जिस तरह से रहती हैं, कुछ दिन इस भाई के यहाँ भी रहिए ! आपका सारा खेवा-खर्चा मेरे जिम्मे !”

हीराबाई कपुरी महाजन का फिर मुँह देखती रह गयीं। कुछ क्षणों बाद उन्होंने पूछा, “तो, महाजन, तुम्हारा आधा ऋण पट गया न !”

“हाँ, बहिन जी, पट गया। और आप यहाँ एक साल तक रहिए तो वह शेष आधा ऋण भी इस तरह चुक जायेगा।”

“सच ?”

“हाँ, बहिन जी, धर्म से कह रहा हूँ यह ! मैं यह सब स्वर्गीय बाबू सुन्दरपाल सिंह जी की शान्ति के लिए कर रहा हूँ। क्यों, बहिन जी ?”

“हाँ, ठीक है, महाजन ! मुझे यहाँ इस ऋण मुक्ति के लिए एक साल तक रहना मंजूर है। पर मेरा खेवा-खर्च मेरा अपना ही होगा।”

यह कहते हुए हीराबाई के मुँह पर सहसा जो प्रकाश उभरा, उसे देखकर कपुरी महाजन सकुचा गया। दूसरे दिन वह आकर हीराबाई को बता गया कि आँगन से इधर के वे तीन कमरे उनके लिए हैं, शेष पीछे के वे तीन बड़े कमरे उसके व्यापार के गोदाम कमरे हैं।

खजांचीराम का ‘आदर्श हिन्दू होटल’ रामकिशन बग्गा के ‘पेरिस होटल’ के सामने कुछ चल नहीं पा रहा था। खजांचीराम टिन का लम्बा भोंपू अपने होंठों पर लगाये उसमें चिल्ला-चिल्लाकर कहता रहा, “भाइयो ! यहाँ की हिन्दू जनता ! यहाँ के पुराने बासिन्दो ! यहाँ के सब हाकिम, पुलिस लोग ! कान खोलकर सुन लो। पेरिस होटल में अधर्म की आग लगी हुई है। ऐसा न हो कि उस अनाचार-व्यभिचार की आग में यह पूरा कस्बा ही न एक दिन जलकर खाक

स्याह हो जाय ! और यह कस्बा ही क्यों, आस-पास के सारे गाँव के अच्छे लोग, इधर से गुजरने वाले मुसाफिर—सभी को यह मालूम हो कि इस 'पेरिस होटल' के पीछे वह जो बरसाती धोबी का पुराना घर है उसी में पेरिस होटल के मालिक ने दारू की भट्टी चला रखी है। इस होटल में पानी की जगह दारू पी जाती है। पेरिस होटल के कमरों में....”

सामने से सोनार बाबू ने खजांचीराम की बात को हाथ उठाकर रोक दिया।

खजांचीराम को बाँहों से पकड़े हुए सोनार बाबू अपने दरवाजे पर ले आये। खाट पर बैठा कर बोले, “सुनो, भाई खजांचीराम ! इस तरह से तुम्हारे चिल्लाने से कुछ नहीं होगा। उल्टे तुम्हें ही लोग पागल समझेंगे ! वह रामकिशन बग्गा नये जमाने का आदमी है। वह हवा के सारे रुख पहचानता है। जिन-जिन से उसे डर है, कामधाम है, वे सब उसी पेरिस होटल में मुफ्त ही....हाँ समझ लो, बस ! सो क्या करे बेचारा रामकिशन बग्गा ! उसका अकेले क्या दोष ! और मैं तो कहता हूँ, भाई, उन बेचारे छोटे-मोटे अहलकारों और अफसरों का भी क्या दोष ! शहर के पढ़े-लिखे बाबू लोग यहाँ इस वीरान कस्बे में इस पेरिस होटल क्या वे बन्द करा दें ? अरे, छोटी तनखाह ! उस पर बड़ा-सा टीमटाम ! क्या करें बेचारे सब !”

खजांचीराम तड़पकर बोले, “फिर यह क्यों नहीं होता कि कम कमरों और उसी में सन्तोख रखें !”

“वह जमाना बदल गया, भाई ! अब तो जमाना है—खूब कमाने का और खूब असन्तुष्ट रहने का। तभी तो वह धर्म-अधर्म, नीति-अनीति बेचारी सामने ही नहीं रुक पाती ! क्या करे बेचारा इन्सान ! सारा दोष तो हवा का है ! इन्सान तो मजबूर है मोरे भाई !”

“तो ?”

“अरे, खुश हो जा, खजांचीराम ! देख न, यह उजड़ा हुआ हमारा सूरूपुर कहाँ-से-कहाँ उठ गया, कितना आगे बढ़ गया—यही क्या कम

है ! अरे, बाढ़ आयी है, तो लहर के साथ किनारे अलीज-गलीज, पानी में नाक घड़ियाल तो आयेंगे ही !”

खजांचीराम आवेश में तनकर खड़ा हो गया, तो क्या हम लोग इस नाक घड़ियालों से इसी तरह मारे जायें ! नहीं-नहीं, इसका उल्टा होना चाहिए। नहीं तो ये नाक घड़ियाल, साँप, बिच्छू, बर्, ततैये....”

बेचारा खजांचीराम उन्नीस सौ बयालीस से पहले भी स्वतन्त्रता संग्राम में दो बार जेल जा चुका था। इसके पहले वह कट्टर आर्य-समाजी था। सो आज वह कुछ नहीं समझ पा रहा था। वह बेचारा सारा दोष इन्सान को देता है।

इधर खजांचीराम के 'आदर्श हिन्दू होटल' में रखे हुए रेडियो की इधर की किस्त कपुरी महाजन को मिल नहीं पा रही थी। किस्त पर किस्त और उस पर ब्याज के ऊपर ब्याज ! बिल्कुल नया हिसाब ! नये ढंग का कर्ज !

खजांचीराम को इस नये हिसाब-किताब का बिल्कुल ज्ञान नहीं था। उसे तो पहले के कपुरी महाजन याद थे। वही अच्छे ईमानदार कपुरी साहु।

पर सहसा एक दिन कपुरी महाजन के आदमियों ने खजांचीराम के रेडियो ऋण के जमानतदार सोनार बाबू को पकड़ लिया। दोनों लोग कपुरी महाजन के घर गये। महाजन ने सारा कागज उनके सामने रख दिया।

उस दस्तखत किये हुए कागज पर लिखा था, “साढ़े तीन सौ रुपये। खजांचीराम को मिला था सिर्फ तीन सौ। पैंतीस रुपये महीने की किस्त। जिस महीने में किस्त न अदा हो तो बचे हुए सारे रुपये पर दो पैसा फी रुपया हर महीने सूद।”

‘खजांचीराम ने तो एक सौ पाँच रुपये महाजन को चुकता कर दिये हैं, पर ये साढ़े तीन सौ तो तीन सौ ही बने हुए हैं।”

“यह कैसे महाजन ?”

“आ के देखो न, हिसाब जोड़ लो न ! मैं अपने ही लोगों से कोई बेईमानी करूँगा क्या ? अजब बात है। लोग मुझे बेइमान समझने लगे हैं....”

“नहीं, ऐसी बात नहीं, महाजन ! सब ठीक है साहु !”

दोनों एकटक कपुरी महाजन को देखते रह गये, फिर वे परस्पर एक दूसरे को देखने लगे। अवाक् जैसे अवश पकड़ कर बैठाए हुए हों।

सन्ध्या समय खजांचीराम अपने उस रेडियो को चद्दर में ढके हुए कपुरी महाजन के पास उसे बेचने लाया। महाजन ने बहुत एहसान से उसका आधा दाम लगाया—डेढ़ सौ। और अब तीन सौ में से डेढ़ सौ घट कर वही डेढ़ सौ कर्ज खजांचीराम के माथे रहा। पर किस्त वही पैंतीस रुपये महीने की ही रही।

और एक दिन खजांचीराम का वह ‘आदर्श हिन्दू होटल’ टूट गया।

और ऋणमुक्ति के लिए खजांचीराम को कपुरी महाजन के यहाँ उसी पैंतीस रुपये महीने की तनखाह पर मुनीमी की नौकरी करनी पड़ी।

एक ही सप्ताह बाद कपुरी महाजन ने खजांचीराम को बड़े ही कड़े शब्दों में सावधान कर दिया, “अगर तुम्हें सूरपुर में रहना है तो तुम ‘पेरिस होटल’ के हित में हमेशा-हमेशा के लिए अपना मुँह बन्द रखोगे। कभी भी तुम ऐसी कोई भी हरकत नहीं करोगे कि जिसमें ‘पेरिस होटल’ का कोई अहित हो ! समझे ?”

“ऐसा क्यों, महाजन ?”

“क्योंकि ‘पेरिस होटल’ में मेरी आधे की हिस्सेदारी है।”

खजांचीराम महाजन का मुँह देखता रह गया। उसके सामने उस रह से ‘आदर्श हिन्दू होटल’ का टूटना साफ हो गया।

एक दिन ग्यारह बजे रात के समय कपुरी महाजन दौड़ा हुआ हीराबाई के पास आया, बोला, “बहिन जी, कल सुबह यहाँ अगार पुलिस आये तो आप सीधे कह दीजियेगा कि यह मेरा घर है। इससे कपुरी महाजन का कोई ताल्लुक नहीं है।” हीराबाई कुछ नहीं समझ सकी। उन्हें रात भर उस घर में नींद नहीं आयी। वे रात भर उसी तरह बैठी रहीं। उस रात उन्होंने सुनी, पीछे के उन बन्द कमरों में टिनों के तोड़ने, उलटने की आवाज ! रात भर कुछ भरने, मिलाने, उठाने और रखने की आवाज ! और सुबह होते-होते वह आवाज खत्म ! हीराबाई ने सुबह अपनी नौकरानी रहँसी से पूछा, उसने बताया कि उन कमरों में भूत रहते हैं मालकिन ! वहाँ तो अक्सर रात भर घुँघुँरुओं की आवाज होती है। हीराबाई को हँसी आ गयी।

और ठीक उसी समय बाहर पुलिस आयी। उस घर के विषय में हीराबाई से पूछने लगी। वहाँ सिर्फ वे ही रहती हैं, यह सुन कर पुलिस लौट गयी।

पर हीराबाई की इससे भूख मारी गयी। दोपहर के समय उन्होंने उन बन्द दरवाजों के भीतर बड़ी मुश्किल से भाँक-भाँक कर देखा— एक कमरे में टिन ही टिन रखे हैं। दूसरे में एक भट्टी खुदी है और उस पर एक बड़ा-सा कड़ाहा रखा है और वहाँ खुली टिनें रखी हैं। तीसरे कमरे में वही टिन ही टिन रखे हैं।

“यह सब क्या है रे, रहँसी ?”

“पता नहीं, मालकिन ! मुझे तो लगत है कि यहाँ भूतों का डेरा है।”

“नहीं रे, इनमें तो टिन भरे हैं ! और बनस्पति घी की खुशबू आ रही है इधर से !”

“फिर तो मालकिन, इधर देवता लोगन का बास होगा।”

“देवता ?”

“हाँ, जी, मालकिन ! देवता....”

भादों का महीना बीत रहा था। पिछले तीन दिनों से दिन-रात वर्षा हो रही थी। हीराबाई बहुत परेशान थीं। उसी वर्षा में ही नौकरानी के जरिये हाँ मास्टर को उन्होंने बुला भेजा।

हिरामनी मास्टर ने धीरे-से बताया, “कपुरी महाजन देशी घी के व्यापारी हैं—यह रेलवे लाइन बन गयी है न, तभी तो ये फैजाबाद छोड़ कर फिर यहाँ चले आये हैं। इनका देशी घी यहाँ से कलकत्ता, बम्बई, नागपुर, दिल्ली, हैदराबाद तक जाता है। पर आप तो जानती ही हैं, अब देहात में देशी घी कहाँ! बहुत ढूँढ़ने पर कहीं महीने भर में एक टिन देशी घी। फिर इसी एक टिन से पचास टिन....वह बन्दर छाप बनस्पति, उसी में सब जैसियाराम! अरे, माल थोड़े ही बिकता है, बिकता है नाम! क्या करे महाजन, घी बड़ा महँगा हो गया है—साढ़े आठ रुपये सेर!

हीराबाई सिर से पाँव तक काँप गयी।

अगले दिन वर्षा रुक गयी। खजांचीराम के कानों तक भी वह बनावटी देशी घी वाली बात पहुँच गयी, हीराबाई ने एक इक्का मँगवा लिया है। वे उस सुरापुर को छोड़कर आज इसी समय अपने ममरेसपुर गाँव जा रही हैं। खजांचीराम बिल्कुल उदास वहीं इक्के के पास खड़ा है। जैसे कोई पागल हो।

कपुरी महाजन हर तरह से हीराबाई को जाने से रोक रहा है। पर हीराबाई अब वहाँ एक क्षण भी नहीं रहेंगी।

कपुरी महाजन खजांचीराम को आँखें दिखा कर डाँट रहा है कि वह वहाँ से भाग कर अपनी मुनीमी की ड्यूटी पर जाय। पर वह भी वहीं अपनी ही जगह पर खड़ा है।

हीराबाई अपने हाथ की सारी सोने की चूड़ियाँ उतार कर कपुरी महाजन को देने लगीं, “लो, महाजन, ऋण का वह बाकी धन!”

महाजन हाथ जोड़ कर बोला, भगवान कसम, बहिन जी, अब सब पट गया! अब मेरा कुछ भी बाकी नहीं। बस, आप चुप रहिएगा,

बहिन जी, हाँ!”

उसी क्षण खजांचीराम चिल्ला उठा, “पर मैं अब चुप नहीं रहूँगा!”

“क्या कहा?”

“वही—मैं अब चुप नहीं रहूँगा।”

“तुझे इस सुरापुर में रहना है या नहीं?”

“नहीं, नहीं, नहीं!”

“तू पागल तो नहीं हो गया?”

“यह तू अपने से पूछ, रे कपुरी! सुन रे महाजन! कैसा था तू, जब यहाँ से गया था। कितना दयालु, कितना ईमानदार और कितना अच्छा....! पर इन पन्द्रह वर्षों में तुझे क्या हो गया रे! बोल, कौन-सा कीड़ा तुझ में लग गया? बोल आखिर तू चाहता क्या है?”

“पता नहीं....” बड़े दर्द से कपुरी महाजन के मुँह से इतना निकला।

“फिर बोल, पागल कौन है?”

कपुरी महाजन दूसरे ही क्षण सँभल कर बोला, “तू चुप रहता है कि नहीं?”

“अब नहीं!”

हीराबाई का इक्का सामने से टाँडे वाली सड़क पर मुड़ा चला जा रहा था। इक्के में लगे घुँघुसुओं के बजने की मीठी आवाज अभी भी वहाँ तक आ रही थी।

कपुरी महाजन के सामने वह खजांचीराम निश्चल खड़ा था। महाजन ने धीरे-से पूछा, “बता, तुझे कितना चाहिए, ताकि तू चुप रह जाये!”

“ओह, कितने रुपये! घूस या कर्ज?”

“नहीं, इनाम!”

“चुप रहने का इनाम।”

“हाँ ।”

“पर तू क्या जाने इनाम ? तू तो सिर्फ कर्ज देना जानता है !”

“नहीं, भगवान सौगन्ध, तुझे इनाम दूँगा ।”

“सच ?”

“हाँ ।”

“तो ला रख मेरे हाथ में पाँच सौ रुपये !”

कपुरी महाजन ने सौ-सौ रुपये के पाँच नोट खजांचीराम के हाथ में रख दिये ।

“बोला, ईश्वर की कसम ! तू मेरे व्यापार के बारे में किसी से कुछ नहीं बोलेगा !”

“ईश्वर कसम, नहीं बोलूँगा ।”

यह कहते हुए खजांचीराम के होंठ काँप गये थे । पर उतनी-सी ही बात जब खतम हो गयी, तो खजांचीराम ठठाकर हँस पड़ा था । हँसता रहा और उसकी आँखों से आँसू भरते रहे । मुठ्ठी में नोट दबाये वह उसी तरह भागा हुआ अपने यार दोस्त सोनार बाबू के पास गया, हँसते हुए बोला, “यह देख, मेरे कपुरी महाजन ने मुझे यह इनाम दिया है, मैं वह बात किसी को नहीं बताऊँगा, हाँ !” इसी तरह दौड़ा हुआ वह हिरामनी मास्टर के यहाँ गया । वहाँ से भागता हुआ वह उस पचास वर्षीया मिडवाइफ मिस काल्टन के पास गया, “यह देखो, पाँच सौ रुपये, चुप रहने का इनाम ! हाँ, मैं कुछ नहीं बोलूँगा !”

सुरापुर बाजार के उत्तर जिधर नयी पुलिस चौकी, नया अस्पताल वगैरह खुला है—वहाँ एक नीम का पेड़ है । उस नीम के पेड़ में एक बरगद का पेड़ आया है—जैसे किसी की छाती पर बड़ा-सा पत्थर रख उठा हो ।

सोनार बाबू और हिरामनी मास्टर खजांचीराम को अपने संग लिये हुए उसी नीम के पेड़ के पास आये, “देखो, पापी के छाती पर यह बरगद का पेड़ ! याद करो ! कहाँ भूल गये तुम ! फेंक दो ये रुपये और

बता दो सब साफ-साफ !”

खजांचीराम खिलखिला कर हँस पड़ा, “नहीं, नहीं । यह नीम मैं हूँ और बरगद का पेड़ मेरा इनाम है ।”

सन्ध्या समय पुलिस चौकी के सामने चबूतरे पर दरोगा, डाक्टर, स्कूल के मास्टर, पी० डब्ल्यू० डी० के इंजीनियर सभी कुर्सी पर बैठे बातें कर रहे थे । वहीं खजांचीराम जाकर चिल्ला उठा, “यह देखो, कपुरी महाजन ने मुझे अपने व्यापार के लिए इनाम दिया है, मैं कुछ बताऊँगा नहीं, मैंने ईश्वर की सौगन्ध खायी है ।”

“कैसा इनाम ?”

“क्यों बताऊँ ?”

खजांचीराम ठहाका मार कर हँस पड़ा और वहाँ से भाग कर उसी नीम के पेड़ के नीचे जा खड़ा हुआ । और वहाँ खड़ा हँसता रहा ।

तभी कपुरी महाजन पुलिस चौकी के सामने चबूतरे पर जाकर बोला, “हुजूर ! यह खजांचीराम पागल हो गया है, अपने हाथ में सौ-सौ रुपये के पाँच जाली नोट लिए हुए है तभी सबसे अनाप-सनाप बक रहा है ।”

नीम के पेड़ के नीचे उसी क्षण खजांचीराम की हँसी सहसा टूट गयी । वह दौड़ा हुआ वहाँ गया । चौकी के दरोगा के सामने पाँचों नोट फेंक कर बोला, “आओ, सब लोग मेरे संग चलो, हुजूर, अब मैं सारी चीज आपको दिखाऊँगा ; सब बात बताऊँगा ।”

यह कहते-कहते खजांचीराम फफक कर वहीं रो पड़ा ।



बिन्दो भाभी

जेठ-बैसाख की संध्या ; आँगन में बैठे मुन्नू के माँ-बाप दोनों रो रहे थे। निःशब्द। पता नहीं कितनी देर से ! और बिन्दो बहू ऊपर बरामदे में बैठी हुई हाथ के दोनों अंगूठों से चुपचाप धरती खोद रही थी—कहीं कोई आँसू नहीं।

पिछले साल लखनऊ में सागर बाबू की उस मृत्यु के बाद ऐसा हुआ कि सागर बाबू के दफ्तर के बड़े अफसर ने दया करके दिवंगत बड़े भाई के स्थान पर मुन्नू भइया को वह सवा सौ रुपये वाली नौकरी दे दी थी। बी. ए. पास मुन्नू भइया तब से लखनऊ में अपने उसी काम पर ही जुटा हुआ था। सागर बाबू की उस चार साल तक की लम्बी बीमारी ने घर को जैसे कंगाल कर दिया था। कर्ज ऊपर से और अब सब का जिम्मेदार वही अकेला मुन्नू। सुन्दर स्वस्थ जवान, सीधा, सादा आज्ञाकारी।

लखनऊ में सहसा पिता जी की चिट्ठी पाते ही फौरन मुन्नू अपने गाँव आया और घर में प्रवेश करते ही आँगन का वह करुण दृश्य देखकर मुन्नू हैरान रह गया। इतनी भयानक उदासी ! जैसे किसी की मृत्यु हो गयी हो और आँगन में उसकी लाश को घेरे हुए लोग चुपचाप बैठे हों।

वह माँ बाप !

और वह बरामदे में बैठी हुई बिन्दो भाभी—दीवार की ओर मुख किये जमीन में सिर गाड़े।

मुन्नू आगे बढ़ आया।

“अम्माँ, नमस्ते ! नमस्ते पिता जी ! भाभी, नमस्ते।”

माँ बाप ने भट सिर उठा कर अपने मुन्नू को देखा। पर बिन्दो भाभी वैसी की वैसी अविचल बैठी रही।

पिता जी ने बड़ी दर्दनाक खबर दी, “बिन्दो के पेट में आठ महीने का गर्भ है बेटा।”

माँ रो-रोकर कहने लगी, “मेरे बेटे की जगह क्यों नहीं इस कुलच्छिन की मौत हुई ? मेरे हीरा जैसे बेटे को इसी नागिन ने डँसा है। आज मेरे सागर को मरे पूरे एक साल हुए, पर इसने एक दिन भी उसे न याद किया। धन-धर्म सब गया इस निगोड़िन के पीछे।”

पिता जी की आँखों से आँसू रुक ही न रहे थे—जैसे सात पुस्त की इज्जत आबरू अधर्म के भय की आँच से पिघल कर आँसू बनती जा रही हो।

मुन्नू के सामने उस क्षण सागर भइया का वह पीला मुख खिंच आया—लखनऊ मेडिकल कालेज के टी० बी० वार्ड में मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए वह। सागर भइया के पास उस समय केवल मुन्नू था। बिन्दो भाभी वार्ड से बाहर लॉन में भइया के एक दोस्त—हरि मोहन बाबू के साथ बातें कर रही थी।

भइया ने उस क्षण कहा था, “बिन्दो से होशियार रहना मुन्नू ! यह बड़ी ही खतरनाक औरत है !”

यह कहने के बाद सागर भइया की आँखों में आँसू उमड़ आये थे। भरे कंठ से वह बोले थे, “मुन्नू, मुझे अपने जीवन में इस बीमारी के अलावा और कुछ न मिला। न पत्नी, न कोई दोस्त। केवल मुझे तुम मिले—छोटे भाई, बस इतना ही संतोष लेकर मर

रहा हूँ।”

आज आँगन में मुन्नू के सामने जैसे वही सागर भइया साक्षात् खड़े हो गये थे। मुन्नू से कुछ न बोला गया। उसे लगा कि बिन्दो भाभी से मैं होशियार न रह सका, तभी यह हुआ है। वह चुपचाप आँगन से बाहर निकल आया और पीछे-पीछे पिता जी। बाहर खाट पर बैठ कर पिता और पुत्र बहुत सम्हाल-सम्हाल कर बातें करने लगे। दिन भर पुरवइया हवा तेज बहकर उस समय विलकुल थम गयी थी।

“भाभी की इस बात को क्या गाँव वालों ने जान लिया है?”

“अभी नहीं। पर अपने पट्टीदार कायस्थ घरों में लोग सुबहा जरूर करने लगे हैं।”

“कोई बात नहीं पिता जी, मैं भाभी को लखनऊ ले जाकर दवा करा दूँगा, सब साफ हो जायगा।”

“नहीं-नहीं बेटा! हत्या का पाप मैं इस बुढ़ापे में अपने सिर नहीं लेना चाहता। कोई ऐसा उपाय करो बेटा कि सब के अनजान में यह बच्चा पैदा हो जाय और तब उसे कहीं सुरक्षित जगह पर ले जाकर छोड़ आओ। नाक कटने से भी बच जाय और अधर्म भी न हो। कुछ ऐसा ही करो बेटा! मुझे पाप और अधर्म से बचा लो। मेरा आखिरी समय है बेटा!”

यह कहते-कहते पिताजी फिर रोने लगे।

उसी रात मुन्नू बिन्दो भाभी को अपने संग लिये हुए लखनऊ रवाना हो गया।

लखनऊ में मल्लुमुहाल के हिस्से में दो कमरों का वह क्वार्टर। आस पड़ोस में गरीब हिन्दू और ईसाई लोग बसे थे। सब लोग अलग-अलग, कोई किसी से मतलब नहीं रखता था। बिन्दो भाभी को अपने क्वार्टर में ले आकर मुन्नू उससे बहुत सावधान रहता था।

जरूरत से अधिक भाभी से वह एक शब्द भी नहीं बोलता था। दिन के साढ़े नौ बजे जब वह भोजन करके दफ्तर जाने लगता था तब बिन्दो भाभी बाहर के दरवाजे पर आकर मुन्नू को कुंजी ताला देती और वह भीतर खड़ी होकर कहती, “बाबू, लो बाहर से ताला बंद कर दो।”

मुन्नू चुपचाप बाहर से ताला बंद करके और उस पर पर्दा खींच कर उसे भली-भाँति ढँककर दफ्तर चला जाता। संध्या समय साढ़े पाँच-छह बजे तक लौटता। तब तक बिन्दो भाभी खाट पर बेखबर सोती रहती। जगाने से जगती, तो घंटे भर तक उन्हें जम्हाई आती रहती थी।

असाढ़ का महीना। एक दिन संध्या समय बहुत तेज आँधी आयी। फिर पानी भी बरसा। जिसका फल यह हुआ कि मल्लुमुहाल की सारी बिजली फेल हो गयी। मुहल्ले में चुप अँधरा। यद्यपि अभी रात के आठ से ज्यादा नहीं बजे थे। मुन्नू सु-अवसर पाकर बिन्दो भाभी को साथ लिये हुए लाल बाग में एक ‘मिडवाइफ’ के यहाँ गया। भाभी की जाँच के बाद ‘मिड-वाइफ’ ने बताया कि पन्द्रह दिनों के भीतर ही बच्चा पैदा होने वाला है।

इतवार का दिन था। मुन्नू बिन्दो भाभी को साथ लिये हुए लखनऊ स्टेशन पर सीतापुर जाने वाली गाड़ी में बड़े इत्मीनान से बैठा था। और सारा दृश्य अजीब मन-मोहक। बिन्दो भाभी की माँग में सिन्दूर, पैर में विलुआ, कलाई में सब्ज रंग की चूड़ियाँ। बदन पर रंगीन कपड़े। आँखों में काजल : जैसे वह नैहर से समुराल जा रही हो। नयी सुहागिन।

थर्ड क्लास का डिब्बा। हर यात्री मुन्नू से पूछता था कि भइया, आप कहाँ जा रहे हो? कब शादी हुई है?

मुन्नू बड़े सहज स्वर में उत्तर देता, “सीतापुर के पास सोनौली

के एक कुँवर साहब हैं, मेरे साथ के पढ़े हुए, मैं उन्हीं के यहाँ जा रहा हूँ।”

“यह आपकी कौन हैं ?”

“मेरी भाभी।”

“भइया, ऐसी अवस्था में आप इन्हें कहाँ घर से दूर परदेश में लिये चले जा रहे हैं ?”

मुन्नू उत्तर देता, “बात यह है भाई कि भाभी के अब तक तीन बच्चे हुए, लेकिन सब पैदा होते ही दूसरे दिन मर जाते हैं। सो पंडित ने इस बार बताया है कि बच्चे का जन्म घर से दूर कहीं परदेश में हो, तो बच्चा जिन्दा रह जायेगा।”

सीतापुर रेलवे स्टेशन से सोनौली पाँच मील उत्तर की ओर है। इक्के को सवारी है। मुन्नू भाभी को संग लिये जब सोनौली जाने वाले इक्के पर बैठा, उस समय संख्या के चार बज रहे थे।

इक्केवान मुसलमान था और घोड़ी कुछ कमजोर थी। इक्के वान घोड़ी को बहुत आहिस्ते से हाँक रहा था। सड़क अच्छी थी। दोनों किनारों पर आम के पेड़ लगे थे—खूब आम आये थे और उन फलों के बोझ से जैसे पेड़ झुके जा रहे थे।

इक्केवान ने इक्के को हाँकते हुए कहा, “हुजूर, अगले महीने तक यह घोड़ी बच्चा देने वाली है। इसीलिए इसे जरा कम ही दौड़ाता हूँ। ऊपर से इस साल गर्मी और लू बहुत तेज है सरकार। बहुत बुरे दिन में इसे बच्चा होगा इस बार। बहुत जी डरता है, बच्चे को कहीं कुछ हो न जाय। बच्चा तो खुदा का नूर है न हुजूर। चाहे वह इंसान का हो, चाहे जानवर का। क्यों साहब ?....”

मुन्नू इक्केवान की बातों में ‘हाँ हूँ’ करता हुआ चला रहा था, लेकिन इक्केवान की बच्चे वाली बात सुनकर वह चुप रह गया।

इक्केवान ने पूछा, “हुजूर, यह आपकी औरत हैं न ?”

“हाँ।” मुन्नू के मुँह से सहसा निकल गया।

मुन्नू इक्केवान की सफेद दाढ़ी देखने लगा और बिन्दो भाभी एकटक मुन्नू को।

उसी समय सड़क के किनारे आम की झुकी हुई डाल को किसी ने हाथ से झकझोर दिया; धरती पर आम ही आम बरस गये। बिन्दो भाभी की उदास आँखों में वे सुनहरे आम भर गये।

इक्केवान ने कहा, “हुजूर, मेरे कोई बाल-बच्चा नहीं है। कोई बच्चा हुआ ही नहीं। परवर दिगार की रहमत। बीबी ने बहुत झगड़ा किया दूसरी औरत लाने के लिए, पर वह बात मेरी समझ में न आयी। अरे, जिसे उस खुदा के दरवार में न मिला, वह कहाँ भीख माँग कर पायेगा। इसी घोड़ी की माँ थी, उसके बच्चे होते थे, उन्हें देखकर छाती जुड़ा लेता था और अब इस घोड़ी के बच्चों को पालता हूँ।”

मुन्नू का जैसे साँस फूल गया, “सोनौली अब कितनी दूर है इक्केवान ?”

“बस, अब आधे घंटे में पहुँच जायेंगे हुजूर! यह पुरइल का नाला है। इसके बाद शुकुल का बाग, फिर कुँवर साहब का कोट। तो हुजूर, आप पहली बार तशरीफ ला रहे हैं इधर।”

“हाँ !”

“कुँवर साहब आपके रिश्तेदार हैं न !”

“नहीं, हम लोग लखनऊ में एक साथ पढ़े थे।”

“फिर तो आप सोनौली में कुँवर साहब के साथ पूरी गर्मी बिता कर जाइए। अहा ! जितने नेक शरीफ मेहरवान कुँवर साहब हैं, उसी तरह उनकी बेगम साहिबा हैं।”

पाँच बजते-बजते मुन्नू का इक्का सोनौली में कुँवर साहब के दरवाजे पर पहुँच गया।

कुँवर मदनसिंह घर में ही थे। मुन्नू को इस प्रकार अपने यहाँ पाकर मदन सिंह की प्रसन्नता की सीमा न रही। मुन्नू कितना सीधा सरल आदमी है, मदन सिंह को इसका खूब ज्ञान है। मदनसिंह की

पत्नी का नाम है सुचित्रा। सचमुच जैसा इक्केवान ने कहा था, उससे भी अधिक सुन्दर, गुण सम्पन्न और स्नेहशीला। मुन्नू और उसकी बिन्दो भाभी मदनसिंह के घर में जैसे खो गये।

रात के समय भाभी को अकेला पाकर मुन्नू ने चिंता प्रकट की, “भाभी, हम लोगों को इस घर में रहना ठीक नहीं है। तुम कल सुबह मदन बाबू की पत्नी से कहो—पंडित ने बताया है कि बच्चे का जन्म किसी के घर में नहीं होना चाहिए।”

सुबह बिन्दो भाभी ने सुचित्रा से कहकर उन्हें संतुष्ट कर लिया। मदन सिंह के घर के सामने कुछ दूरी पर एक नदी बहती थी। नाम था सैंड्या नदी। उस नदी और घर के बीच में एक बहुत बड़ा बाग था—फूल, फुलवारी और फलों के वृक्ष और उसी में एक छोटा-सा ‘गेस्ट हाउस’। अगले दिन तीन कमरों और एक बरामदे वाले उस ‘गेस्ट हाउस’ की पुताई हुई। उसके आसपास चारों ओर खूब झाड़ा-पोंछा गया। मुन्नू और भाभी की सेवा में वहाँ एक नौकर रख दिया गया। चौथे दिन से मुन्नू अपनी भाभी के संग उसी ‘गेस्ट हाउस’ में रहने लगा। दोनों वक्त का भोजन, सुबह शाम का नाश्ता, सोते समय रात को दूध—यह सब कुछ कुँवर साहब के घर से आता था। सुचित्रा के स्नेहमय प्रबंध और कुँवर के मित्र भाव से मुन्नू धबराने लगा।

संध्या का समय था, भाभी सैंड्या नदी में नहाकर कमरे में आयी थीं।

मुन्नू कुछ चिंतित स्वर में बोला, “भाभी, मैंने गलती की। मुझे तुमको यहाँ नहीं लाना था। हमारी ओर से केवल छल और कपट है, हमारे मित्र की तरफ से केवल प्रेम ही प्रेम है। हम लोग यहाँ जिस उद्देश्य से आये हैं, उसका अब कैसे क्या होगा—बड़ी चिंता लग रही है मुझे।”

बिन्दो भाभी अपने बीते हुए जीवन में कभी एक क्षण के

लिए भी जैसे आदरमय, स्नेहमय, विश्वासमय वातावरण में न रही हैं। न वह कभी मुन्नू के इतने समीप ही रही हैं। मुन्नू भइया के सद्व्यवहार और उसके पुरुष में बसे धैर्य, क्षमा और चरित्र के संस्पर्श से जैसे बिन्दो भाभी रोज विकसित होती चलती थीं। कुँवर साहब और उनकी पत्नी में इतना प्रेम, बिन्दो ने ऐसा जीवन पहले कभी न देखा था। बिन्दो भाभी ने अपने गत दाम्पत्य जीवन में केवल अविश्वास और वैमनस्य जाना था। प्रेम और विश्वास की भूखी बिन्दो। वह एकटक कुँवर साहब और उनकी पत्नी को निहारती रह जाती थी। फिर वह अपने आपको निहारती थी। फिर वह अपने दिवंगत पति को स्मरण करती, जो उससे सदैव घृणा करता था। घृणा के उसी जहरीले धुँए में पति घुट-घुट कर मरा था, जैसे कोई खुद अपने कीमती घर में आग लगा ले। फिर बिन्दो मुन्नू भइया को निहारती थी—कैसा उदार शीलवान पुरुष !

बुधवार दिन था। संध्या के छह बज रहे थे। आसमान में खूब बादल छाये हुए थे—उसी समय बिन्दो भाभी के पुत्र पैदा हुआ। खूब सुन्दर, स्वस्थ बच्चा। बिन्दो मुँह फेरकर रो पड़ी। मुन्नू उदास हो गया—चिंतित। किन्तु कुँवर साहब के घर में खुशी के बाजे बज उठे। औरतों का एक झुंड लिये हुए सुचित्रा ‘गेस्ट हाउस’ में दौड़ आयीं। सोहर होने लगा—मंगल और अशीस। कुँवर ने बन्दूक के कई फायर किये। पैसे लुटाये गये। चाँदी की हँसिया से बच्चे का नार काटा गया। बिन्दो भाभी अपने आपको छिपाती हुई सबके सामने जितना ही प्रसन्न होने का अभिनय कर रही थीं, अंतस उतना ही हाहाकार करके रो रहा था। उसकी भीतरी शक्ति अपरिचित, असंग होकर वह सब दृश्य देख रही थी—जैसे किसी और के वह बच्चा हुआ हो और वह विधवा कलकिनी बहुत दूर खड़ी होकर वह सब निहार रही हो—अपनी अशुभ छाया अपने आप में समेटे हुए। मुन्नू की

हालत और भी ज्यादा विचित्र थी। वह कुँवर के साथ प्रसन्न मुख रहकर भीतर बेहद उदास होकर सोचता था—कहाँ यहाँ आकर फँस गया ! ऐसे मित्र के सामने ऐसा झूठ, ऐसा कपट-खेल !

तीसरे दिन, रात को, जब भाभी के पास से औरतों की भीड़ हट गयी और रात बीते जब भाभी के पास की चमाइन भी सो गयी— तब मुन्नू ने संकेत से भाभी को अपने पास बुलाया। दरवाजे के पास दोनों खड़े हुए धरती की ओर देखते रह गये। भीतर कमरे में दो स्थानों पर कड़वे तेल का चिराग जल रहा था और सामने धीमे-धीमे आग चमक रही थी। नवजात शिशु सो रहा था।

मुन्नू ने कहा, “भाभी, अब क्या सोचती हो ?”

“जो कहो बाबू !”

“बच्चे का क्या होगा भाभी ? इसे कहीं यहाँ छोड़कर हम भाग भी नहीं सकते ! बताओ अब क्या हो ?”

भाभी किवाड़ थामे, दरवाजे में सिर गड़ाये जमीन में देख रही थी और भर-भर उसकी आँखों से आँसू बरस रहे थे। भाभी साथ ही मुन्नू की भी दशा का एहसास कर रही थी। मुन्नू की जबान जैसे थर-थर काँप रही थी।

“अब कैसे क्या किया जाय भाभी ?”

भाभी ने चुपके से अपनी आँखें पोंछीं। मुन्नू भइया का वह उदास चिह्नित मुख देखकर वह बोल बैठी, “बाबू, ऐसा करती हूँ अब मैं, अपने कपड़ों में आग लगाकर आज ही रात मर जाती हूँ, तुम इस बच्चे को लिये हुए लखनऊ चले जाना, वहाँ चाहे किसी को दे देना, चाहे……” आगे भाभी का गला रुँध गया।

भाभी का ऐसा रोना मुन्नू ने जीवन में पहली बार देखा है। भाभी को यहाँ आकर अब क्या हो गया ? यह कैसा मोह !

मुन्नू को चुप देखकर भाभी फिर बोली, “यदि यह ठीक नहीं है। इसमें यदि तुम्हारी कोई बदनामी है बाबू, तो ऐसा करती हूँ कि बच्चे

को भी अंक में लेकर आग लगा लेती हूँ।”

“नहीं-नहीं भाभी !” मुन्नू वहाँ से हट गया और सूने में फफककर रो पड़ा।

भाभी कहती जा रही थी, “फिर क्या करोगे बाबू तुम। इसमें तुम्हारा क्या कसूर ! तुम क्यों अपने आपको इस तरह दुख देते हो ? अरे, सौरी में तेल कपड़ा और आग सब पास-पास रहता ही है, आग अक्सर लग जाती है, किसी को अविश्वास न होगा बाबू !”

“भाभी चुप करो ! चुप हो जाओ भाभी !”

“फिर जो तुम आज्ञा दो बाबू, मैं वही करूँ !” भाभी पास आकर बोली, “मुझे आज्ञा दो बाबू ! मैं तुम्हारी आज्ञा पालन कर तुमसे विश्वास पाना चाहती हूँ बाबू। ताकि मेरा जीवन सार्थक हो जाय। विश्वास मानो बाबू, मैं तो अब तक मरी हुई थी, न कोई बूझ, न विचार, तुम्हारा यह साथ पाकर लखनऊ से दूर यहाँ आकर अचानक न जाने कैसे जी गयी, बाबू !”

मुन्नू बगीचे के शून्य में देख रहा था—लखनऊ मेडिकल कालेज के टी. बी. वार्ड में मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए उसके सागर भइया, “मुन्नू ! बिन्दो से होशियार रहना। यह बड़ी खतरनाक औरत है।”

यह कहने के बाद सागर भइया की आँखों में जो सहसा आँसू उमड़े थे, वे आज मुन्नू को जैसे डुवो रहे थे, “मुन्नू ! मुझे अपने जीवन में इस बीमारी के अलावा और कुछ न मिला। न पत्नी न कोई दोस्त ! केवल तुम मुझे मिले। बस, इतना ही संतोष लेकर मर रहा हूँ !” यह मृत्यु-शय्या से सागर भइया ने कहा था।

“क्या सोच रहे हो बाबू ? मेरे कारण तुम उदास मत हो। मुझे बताओ क्या सोच रहे हो तुम ?”

आधी रात से ज्यादा का समय हो रहा था। सहसा बच्चे के रोने

की आवाज आयी। माँ बच्चे के लिए दौड़ी और उसे अंक में लेकर दूध पिलाने लगी।

दूध पीकर बच्चा फिर सो गया।

विन्दो भाभी बाहर आयीं। मुन्नू उसी तरह आसमान के नीचे चुपचाप खड़ा था। भाभी ने कहा, “मेरे कारण तुम्हें इस तरह दुखी होना पड़े, मेरे इस जीवन का धिक्कार है बाबू! एक को अविश्वास देकर मारा है, तुम्हें चिता देकर मारूँ, अब यह मुझसे नहीं होगा।”

“पर तुम क्या करोगी भाभी? तुम कर ही क्या सकती हो? गलती मैंने की तुम्हें यहाँ लाकर। भूट का जाल ऐसे ही होता है!”

“लेकिन भूट तो मैं हूँ बाबू, तुम तो नहीं हो!...अच्छा अब तुम जाकर सो जाओ, कल देखा जायगा। कुँवर जी और उनकी पत्नी हमें अभी अगले मंगलवार तक रोकेंगी! वे लोग इस बच्चे के लिए उरुख मनाने वाले हैं—बड़े रूप में इसकी बरही करने वाले हैं।”

यह कहती-कहती भाभी फिर रोने लगी। मुन्नू वहाँ से हटकर अपने कमरे में चला गया।

थोड़ी-सी रात शेष थी। मुन्नू दूर अपने कमरे में सो रहा था। सहसा उसकी आँख खुली, वह अवाक सुनने लगा—भाभी अपने कमरे में मंगल सोहर गा रही थीं। ऐसा करुण कंठ! ऐसा मुक्त स्वर, उसने कभी नहीं सुना था।

उसी स्वर में बँधा हुआ मुन्नू फिर सो गया और दिन निकले तक सोता रहा। सहसा चमाइन ने आकर मुन्नू को जगाया।

भाभी कहाँ चली गयीं? कब गयीं? मुन्नू धवड़ा गया था। चमाइन डर गयी थी।

चमाइन ने हाथ जोड़कर बताया कि “शुक्र उदय होते-होते भाभी गा-गाकर बच्चे को तेल-उबटन किया, काजल लगाया, भरपेट दूध

पिलाया, फिर बच्चे को सुलाकर सैइया नदी की तरफ गयीं और अब तक नहीं लौटीं।

मुन्नू मूर्तिवत् खड़ा रह गया।

पूरब का सूर्य काफी चढ़ आया। शिशु जगकर किलकारियाँ मारता हुआ खेल रहा था। मुन्नू ने उसे अंक में ले लिया।



दर्पन कथा

यह लो दर्पन आ गया। दीवानी चाल। न जाने क्या ऊपर देखता चलता है। अपने आप मुस्कराता है—जैसे किसी से मीठी बात कर रहा हो! कपड़ों की जरा भी परवाह नहीं। बिना क्रीज के ऊनी पैट—उसी का कोट। सर्ज वाला। कभी यह बाकायदा सूट रहा होगा, यह अब भी लगता है इससे।

पर अब तो ऐसे ही....

जवाब देने वाला एक। सवाल करने वाले अनेक। और वह भाबुक, निश्चल दर्पन, जो हर बात में लजा जाता है, वह अपने चौक वाले इलाहाबाद बैंक के दफ्तर में किसी की बात का कभी बुरा नहीं मानता। वह अपनी कुर्सी पर अभी बैठा भी नहीं पाया, कि लोग उससे सवाल करने लगे :

“कहो दर्पन ! कुछ हाल चाल तो बताओ ! सुना है मालिक, फिर शादी करने जा रहे हो !”

“अरे, बड़ा रंग है गुरु इनका !”

“कस में, हमका न बतइबो ! ऐसन करिबो मालिक !”

“कहो यार, कहाँ बात पक्की भयी है !”

“अमें यार, जहाँ नयन लड़ि जाय ! क्यों भई दर्पन !”

“सुना है मालिक, पहली वाली का प्रेम पत्र आया है ! क्यों....?”

सवाल करने वाले अनेक। दर्पन अकेला ! वह सबकी ओर देख-देख कर सिर्फ मुस्कराता रहता है और प्रश्न करने वाले उसका लाज-भरा किशोर मुँह देख-देख कर हँस पड़ते हैं। पर दर्पन किसी की बात का कभी बुरा नहीं मानता।

दर्पन सच दर्पन है। कोई भी उसके सरल मुख से उसके समूचे अंतःकरण का चित्र देख सकता है। उसके हृदय का सारा दुख-सुख। सारा दर्द। उसकी सारी तड़पन और चिन्तना। तभी तो उसका सारा दफ्तर दर्पन की कथा जान गया है। चपरासी से लेकर एजेंट तक सब उसकी कथन कथा जानते हैं। पर जहाँ दर्पन रहता है—कल्याणी देवी मुहल्ले के उस अहीर के घर में, सिर्फ एक कमरा लेकर—वहाँ लोग दर्पन की कथा नहीं जानते। वहाँ तो दर्पन किसी से कभी कुछ बोलता भी नहीं। आज इसे दो वर्ष हाँ गये यहाँ आये, पर इसका वही मौन—अकेला जीवन। चाहे गर्मी हो या बरसात, उसी कमरे में वह दर्पन बन्द बैठा रहता है। उसी एक कमरे में अपने हाथ से भोजन, उसी में रहना, और उसी के फर्श पर उसका बिछावन।

आज दो साल हुए, जब दर्पन कानपुर से यहाँ आया था। इलाहाबाद बैंक की चौक शाखा में काम करने। एक हफ्ता भी नहीं बीता था, वह टेबुल पर सिर झुकाये निःशब्द रो पड़ा था। बैंक की उस भीड़ में सामने की सड़क के उस शोरगुल में भी वह जैसे परम एकाकी, अपने अन्तस के ही दर्द को महज सुनता था।

“कस मालिक, का बात है ?”

सबसे पहले होमसेविंग काउन्टर के खन्ना बाबू ने दर्पन को तब उस तरह रोते हुए देखा था। सब काम छोड़ कर खन्ना बाबू ने अपरिचित दर्पन को अपनी सहानुभूति, ममता से छुआ था। कैन्टीन में ले जा कर खन्ना

बाबू ने दर्पन से कहा, “घबराओ नहीं, तुम्हारा काम मैं कर दिया करूँगा। नयी जगह है। जब तक जी न लगे, तब तक....”

इतने पर दर्पन सहसा फूट पड़ा। फफक-फफक कर रोने लगा, “नहीं खन्ना बाबू, काम की बात नहीं। मेरे मन में वह हरदम दहकती रहती है। यह देखो उसका चित्र! यह मेरी पत्नी थी। और आज यह आगरे से मेरी बुआ का खत आया है।”

चित्र और खत दोनों खन्ना बाबू के सामने थे। चित्र की स्त्री नहीं लड़की मुस्करा रही थी। बड़ी-बड़ी आँखें। गोल चेहरा। मनभावन, सरल मुख। कितनी गजब की सुन्दर। जैसा कि दर्पन खुद था। दोनों की अद्भुत जोड़ी ईश्वर ने रची थी। खन्ना बाबू चित्र को देखते रह गये। अवाक्!

“यह तुम्हारी पत्नी?”

“हाँ, मोहना नाम था इसका।”

“मोहना!”

“बुआ का यह खत आया है। मोहना अब आगरे में....”

दर्पन दोनों हथेलियों में अपना मुँह छिपा कर रो पड़ा, “बुआ का खत आया है कि मोहना पतुरिया हो गयी।”

“मोहना का मुझसे तलाक हो चुका है, पर खन्ना बाबू मोहना मुझे भूलती नहीं। मैं क्या करूँ! मेरे ताऊ जी मुझसे कहते हैं कि तू दूसरी शादी कर ले! औरत की जात बादल के समान है, इसका क्या भरोसा! औरत से इतना मोह! और जिस औरत ने तुम्हारे साथ ऐसा किया हो! अरे औरत तो मोम की हवेली है। इसके भीतर चिराग जलाओ तो सब कुछ स्वाहा। आँख मूँद कर इसके अंक में जाओ तो वही गला घोट व्यापार।

“पर ताऊ जी की बात मेरी समझ में नहीं आती। मैं उस मोहना को क्या करूँ!” और दर्पन यह कहते-कहते फिर रो पड़ा।

उसकी कथा नहीं, बल्कि आत्मकथा की जड़ तो बहुत गहरे पैठी है। वह जड़ फैली भी बहुत दूर तक है। जहाँ उसकी जन्मभूमि है—गाँव करनाथ, पोस्ट करवा बुजुर्ग, तहसील भरथना, जिला इटावा। बड़ी रम्यभूमि। सुन्दर-सुन्दर टीले, करील कुँजों से अलंकृत। एक और जमुना, दूसरी और चम्बल। एक और ब्रज के रसिये तो उस पार डाकुओं की छावनियाँ, धाँय-धाँय बन्दूक।

दर्पन को इटावा के इन्टर कॉलेज से एफ० ए० पास करने के बाद मामा सोहनदास गुप्त के स्नेह से कानपुर में इलाहाबाद बैंक की नौकरी मिली। पचहत्तर रुपये तनखाह। जूही मुहल्ले में अफीम की कोठी के पास रेलवे लाइन के किनारे वाली बस्ती में वह टिका था। बुआ के ही मकान में वह कमरा था। दूसरी मंजिल पर।

तभी दर्पन की शादी तय हुई। इटावे में नौरंगाबाद मुहल्ले में। मोहना के साथ। मोहना के एक छोटा भाई था, दस साल का, रामा नाम था। और विधवा माँ थी बस। मोहना की बड़ी बहन शान्ती का विवाह भरथना में हुआ था रामचन्द्र के साथ। उसके यहाँ कपड़े का कारोबार होता था। रामचन्द्र ही के धन से मोहना का ब्याह हो रहा था। दर्पन को खूब याद है। उसकी शादी ठीक जेठी दशहरा को पड़ी थी। सन्ध्या सात बजे करनाथ गाँव से बारात इटावा पहुँची थी। नौ बजे द्वारचार हुआ था। दर्पन ने देखा था उसकी होने वाली पत्नी मोहना सामने दूर से ही दर्पन को ऊपर पुष्पहार फेंक कर भाग गयी थी।

सुबह पाँच बजे भाँवर और हवन मगडप में मोहना पत्थी मार कर बैठी थी। और न जाने क्यों ब्याह की उन घड़ियों में वह बेतरह रो रही थी। इस रुदन से दर्पन के पिता और उसके चाचा जी बहुत चिन्तित हुए थे। क्या लड़की का ब्याह उसकी इच्छा के विरुद्ध तो नहीं हो रहा था? वे लोग इसकी जाँच-पड़ताल करना चाह रहे थे। मुहल्ले के लोगों से पता चला कि लड़की पिछले दिनों बहुत बीमार थी शायद। क्योंकि उसके घर पिछले दिनों नर्स और डॉक्टर बहुत आ

जा रहे थे। पता नहीं क्यों? नर्स और डॉक्टर? दूल्हन को ऐसी क्या बीमारी थी? लोग बड़े चिन्तित थे। तभी बुआ के छोटे लड़के शिव-प्रसाद ने एक भयानक रहस्य का उद्घाटन किया। उसे मुहल्ले के ही कुछ आदमियों ने बताया था कि मोहना कुँआरी नहीं है। उसे अभी पिछले दिनों... और वह गर्भ उसी रामचन्द्र का ही था, जो अपने धन से आज मोहना की शादी रचा रहा है।

इस अपावन सत्य ने दर्पन के पूरे परिवार, कुटुम्ब-सम्बन्धियों पर बज्र जैसा प्रहार किया। पूरी बारात पर सदमा छा गया, जैसे सबके मुख पर कालिख पुत गयी हो। दर्पन को याद है—खुली बारात में ही दर्पन के चाचा और उसके पिता जी फफक कर रो पड़े थे। बिना अन्न-जल ग्रहण किये बारात वहाँ से उठने को हुई। रात भर का जगा हुआ दर्पन सबसे दूर अलग मौन बैठा था। अभागा। निर्दोष। निष्कपट। सहसा वह बढ़कर अपने रोते हुए परिवार के सामने जा खड़ा हुआ और दृढ़ स्वर में बोला, “यह सब झूठ है। जिसके साथ अब मेरी शादी हो गयी, वह अब मेरी है। निर्दोष है, पवित्र है वह...”

और ऐसे दर्पन ने वैसी मोहना को अपने संग विदा करा लिया। उसके साथ वह अपने घर आया। सोहागरात क्या, हाँ, एक विकट सत्य की रात! बेहद गर्मी। जैसे रात के उस दो बजे भी लू चल रही हो। ऊपर कोठे पर दर्पन चुप बैठा था—जैसे उसके सामने श्मशान की कोई चिता जल रही हो। मोहना ने आँसुओं के बीच पति से अपनी पूरी दारुण कथा कह डाली। कहीं कोई छल नहीं। अब क्या किससे छिपाना! यह थी दर्पन की सुहागरात!

उसके चौथे दिन ही दर्पन अपनी मोहना को संग लिये हुए कान-पुर चला आया। बुआ के घर के उसी एक कमरे में दूसरी मंजिल पर वह एक कमरा। सामने छोटा-सा बरामदा और दायें-बायें थोड़ी-सी खुली छत। घर के सामने वही अनवरगंज स्टेशन। आती-जाती गाड़ियों की आवाज। धुँआ कोयले की उड़ती हुई चिनगारियाँ। दर्पन

चुपचाप सब निहारता और चौबीस घण्टे अपने अन्तस में रोता रहता। न कुछ खाता, न पीता, न नौकरी पर जाता और न वह नींद, कि क्षण भर के लिए सब कुछ भूल जाये। वह हर क्षण अपनी तकदीर पर सोचता रहता कि ईश्वर ने उसे क्या दिया? उसे क्या हुआ? उसका इतना सच्चा नैतिक जीवन, उसका अखण्ड ब्रह्मचर्य जीवन का पालन, पत्नी और वैवाहिक जीवन के प्रति जिन्दगी भर का पाला हुआ उसका वह आदर्श स्वप्न... किससे वह अपना न्याय माँगे! वह चाहता था कि कोई उसे आकर यह समझा दे कि एक तकदीर होती है—जीवन से बिल्कुल अलग—वही तकदीर सच है—शेष सब झूठ। वह सारा जीवन...

पर दर्पन की समझ में यह सब कुछ नहीं आता था। वह तकदीर को सोचते ही थर-थर काँपने लगता था।

जब वह मोहना का पीला मुख देखता, तो उसे डर लगने लगता था। अपने से भी डर। पर यह डर क्या है? यही तो तकदीर है। नहीं, वह अपनी इस तकदीर से लड़ लेगा। क्योंकि वे दोनों निर्दोष हैं। सबसे बड़ा विश्वास है। ममता और सहानुभूति है। दोष तो परिस्थितियों का है।

दर्पन अपनी मोहना को डाक्टर के पास ले गया। उसे सुइयाँ लगवायीं। दवा की उसकी। और धीरे-धीरे मोहना स्वस्थ हो गयी। उसके गोरे शरीर में खून चढ़ गया। सारा मुख खिल गया उसका। और एक दिन पूरा श्रृंगार करके मोहना दर्पन के पाँव पर बिछ गयी, “मेरे पिया, मुझे क्षमा कर दो...”

“क्षमा! यह अब क्यों कह रही हो? क्षमा तो मैंने...”

यह कहते-कहते दर्पन की आँखें भर आयीं। मोहना ने उसकी भरी आँखों पर अपना तप्त मुख रख दिया, “मेरे पिया! मेरे करुणापति!”

उस क्षण दर्पन को लगा कि उसका जो कुछ टूटा था; धायल था वह सब पुज गया। सब भर गया। और दर्पन का वह नन्हा-सा घर

गा उठा।

उसी बीच एक दिन बुआ ने आकर दर्पन को बताया कि मोहना का वही जीजा रामचन्द्र अपनी औरत शान्ती का इलाज कराने डॉक्टर पूरनसिंह के यहाँ आया है। शान्ती को क्या हुआ है, सो तो पता नहीं पर वह डॉक्टर साहब के ही मरीज क्वार्टर के पीछे रूपा होटल के एक कमरे में टिका है। दफ्तर से लौट कर दर्पन ने यह सूचना मोहना को दी। मोहना रोने लगी कि मुझे उस अधर्मी का नाम मत सुनाओ! पर वह तो मोहना को आज दिन में देखने भी आया था। बुआ ने बताया कि वह उसके लिए कुछ कपड़े और मिठाई भी ले आया था, जिसे बुआ ने अपने आप ही निर्णय लेकर लौटा दिया।

पर क्या वह मोहना को देख भी नहीं सकता? आखिर मोहना की सगी बहन शान्ती भी तो अपनी बहन से मिलना चाहती है। बुआ का सिर्फ एक ही उत्तर था—नहीं, कोई मिलने-जुलने की जरूरत नहीं है। दर्पन ने हँसते हुए मोहना से पूछा, “मोहना, तुम क्या चाहती हो! क्या तुम अपने जीजा और बहन से मिलोगी?”

“नहीं, मैं किसी से नहीं मिलना चाहती!” मोहना ने दर्पन को उत्तर दिया और अनुभव में वह निःशब्द रो पड़ी, बच्ची की तरह सिस-कती हुई।

रामचन्द्र शान्ती को साथ लिये हुये सुबह-शाम रोज बुआ के घर के सामने वाली ईंटे की सड़क पर आता और घूम-घाम कर चुपचाप चला जाता। अगले दिन बुआ ने बताया कि मोहना की वह माँ भी अपने छोटे लड़के रामा को संग लिये हुए आज आयी थीं।

श्रावणी के दूसरे दिन की बात है। उस दिन रविवार था। दर्पन अपनी मोहना को संग लिये हुए देवी के मन्दिर से वापस घर आ रहा था। अकस्मात् उसे रास्ते में वे सब मिल गये—माँ, बहन, रामा,

जीजा बगैरह सब। मोहना दर्पन की दायीं बाँह में जैसे छिप जाना चाह रही थी। दर्पन की सास उसके पैरों पर पड़ी बेतरह रो रही थी। रामचन्द्र अपनी पत्नी के साथ चुप खड़ा था।

जैसे दर्पन सब कुछ भूल गया। वह सबको अपने संग लिये घर आया। बुआ आग बबूला हो गयीं, “दर्पन, तूने यह क्या किया? उन चाण्डालों को तूने मेरी देहरी पर पाँव रखने दिया? तुझे कोई डर नहीं लगा?”

दर्पन ने बुआ को उत्तर दिया, “बुआ सुनो! मुझे अपनी मोहना पर विश्वास है। जहाँ विश्वास, वहाँ डर कैसा? और अगर डर है तो सब वृथा है। बेकार है। झूठ है। बुआ, मैं जानता हूँ मोहना को! वह बड़ी नेक और सच्ची है। उसे बहुत विश्वास और ममता चाहिए क्योंकि उसके साथ विश्वासघात हुआ है।”

“और वही विश्वासघाती इस समय तेरे मेहमान हैं?”

“कोई बात नहीं बुआ! जिससे इन्सान दूटता है, दगा पाता है, आखिर उसको परीक्षा उसी से तो होगी। जहर की दवा जहर ही है न बुआ! मोहना पर मेरा पूरा विश्वास है....वह अब देख मेरी मोहना को....। मेरी मोहना....”

यह कहते-कहते दर्पन बुआ के सामने भरभरा कर रो पड़ा, जैसे सहसा कोई बहुत बड़ा, वजनी बादल बरस जाये।

मेहमान आये! मोहना को देख कर सब उसी तरह वापस चले गये। दर्पन सबको विदा देकर जब ऊपर आया तो उसने देखा—छत पर मिठाई का दोना फेंक दिया गया है। भुण्ड के भुण्ड कौवे छीन-भण्ट कर मिठाई खा रहे हैं और आपस में बेतरह लड़ रहे हैं। वह रेशम की साड़ी और ब्लाउज पूरी तरह से चिथाड़ा हुआ फेंका पड़ा है। कमरे में, पलंग के ऊपर मोहना अँधी पड़ी रो रही है। दर्पन में जैसे सूर्य के तले कई गुना रोशनी हो जाती है, जैसे इन्द्रधनुष के सामने दर्पन सतरंगों से भर जाता है, ठीक उसी तरह दर्पन ने अपनी बाँहें

पैला कर मोहना को अपनी रोशनी में, अपने सतरंगों में भर लिया। और उसे सराबोर कर दिया, “मोहना! मेरी प्रिया, उठो....रोओ नहीं! मनुष्य शायद खोकर ही पाता है। और जितना वह खोता है, शायद वही केवल उसका है, शेष जो वह अपने हाथों में सदा भरे रहता है, शायद वह उतना उसका नहीं है!”

पर मोहना की सिसकियाँ टूट नहीं पा रही थीं। दर्पन के अंक में भी नहीं। जैसे दर्पन की वह आशा, उसके वे विश्वास सिर्फ उसी के हों। मोहना उनसे बिल्कुल अछूती....। रात को दर्पन मोहना को संग लिये हुए बाजार गया। माल रोड की एक दूकान पर उसके लिए एक खूबसूरत साड़ी खरीदी। ब्लाउज के कई कपड़े लिये। मिठाई खरीदी। अगले दिन भी दर्पन बैंक नहीं गया। वह मोहना के कपड़े लिये हुए माल रोड के एक बहुत महंगे दर्जी की दूकान पर गया। कपड़े सिलने देने के बाद वह अपने एक दोस्त के घर गया। कुछ रुपये उधार लेने के लिए। इस तरह वह करीब पौने म्यारह बजे अपने घर लौटा। नीचे घर में बुआ न थीं। उनका घर बन्द था। वह कुछ गुनगुनाता हुआ ऊपर अपने कमरे में गया। कमरा खुला था। साड़ी और मिठाई के दोने उसके पलंग पर रखे थे। मोहना वहाँ अदृश्य थी। नीचे, ऊपर सड़क पर, डॉक्टर पूरन सिंह के यहाँ, रूपा होटल—चारों ओर मोहना को छान कर दर्पन वैरागी की तरह अपनी छत पर खामोश खड़ा था। सूनी रेलवे लाइन को देखता हुआ—निष्फल, पराजित। और उसने देखा अनवरगंज स्टेशन से आगरा वाली पैसंजर ट्रेन छूट कर उसके सामने से गुजर रही है।

अभी कल ही जो बात दर्पन ने रोती हुई मोहना से कही थी, वही बात जैसे कोई दर्पन से अब कह रहा हो, रोओ नहीं दर्पन! उठो मनुष्य शायद खोकर ही पाता है। जितना वह खोता है, शायद उतना ही उसका है....’ पर आज दर्पन इसे नहीं समझ पा रहा है। बल्कि वह आज इसे समझना नहीं चाह रहा है।

मोहना के एक छोटा भाई था न! रामा जिसका नाम था। वह चौथे दिन न जाने कहाँ से भटकता हुआ, भूखा-प्यासा बड़ी गरीब हालत में दर्पन के यहाँ पहुँचा। बहन-माँ को ढूँढ़ता हुआ। उससे पता चला कि फर्सवादा स्टेशन पर रामचन्द्र सबके साथ रुक गया। वहाँ से वे लोग मोटर से आगरा जाने वाले थे। रामा माँ से अलग हट कर जब तक पानी पीने गया, तब तक माँ सहित दोनों बहनें और रामचन्द्र वहाँ से गायब।

गरीब बेचारे रामा को अपने साथ लिये हुए दर्पन सीधे आगरा आया। वहाँ कई दिनों तक ढूँढ़ने और पता लगाने के बाद दर्पन की मुलाकात किनारी बाजार के एक दलाल से हुई। उसी ने बताया कि रामचन्द्र जिससे थोक में कपड़ा खरीदता था—उसका रामचन्द्र पर आठ हजार रुपये बाकी थे। उस कर्ज के बदले रामचन्द्र ने उस व्यापारी को एक लड़की दी है। संग में लड़की को माँ और बहन भी मौजूद हैं।

दर्पन को अब कुछ भी आश्चर्य न लगा। पर उसे मोहना एक क्षण भी नहीं भूलती, यही उसका आश्चर्य था। रामा को उस किनारी बाजार में उस थोक व्यापारी के घर छोड़ने के उद्देश्य से दर्पन उस मकान के सामने गया। रामा की माँ ऊपर बारजे पर खड़ी थी। उसे पहले रामा ने ही देखा। माँ उसे लेने के लिए नीचे दौड़ी। सड़क के पार तक दौड़ आयी। पर रामा को वह नहीं पकड़ सकी। रामा दर्पन के ही पीछे लगा रहा।

“अब तुम कहाँ जाओगे?” दर्पन ने उससे पूछा।

“मैं अपने घर जाऊँगा। वहीं रहूँगा।”

“कैसे?”

“किसी के यहाँ नौकरी कर लूँगा—कुछ भी काम।”

दर्पन रामा की तेज आँखों को देखता रह गया।

कैसी सहज प्रतिक्रिया! कैसा संकल्प!

रामा को इटावा में उसके सूने घर में छोड़कर दर्पन अकेला

कानपुर लौट आया।

दर्पन के चाचा, पिता जी और भाई-पट्टीदार रामचन्द्र पर मुकदमा दायर करने का आग्रह कर रहे थे! बुआ रोती थी और उनके लड़के दर्पन का मजाक और अपमान करते थे।

किन्तु दर्पन सबकी ओर से चुप रह जाता था। वह सोचता—उसके दिल और दिमाग का जो दर्द है, जो उसकी अपनी निजी पीड़ा है, जिसे दुनिया के किसी भी न्यायालय में कोई नहीं प्रकट कर सकता—फिर मुकदमा कैसा? जो बाहर है, सर्व-प्रकट है उसका क्या मुकदमा! और रही बात मजाक और अपमान सहने की! इसे तो सहना ही होगा—तब तक, जब तक इन्सान की यह पीढ़ी अपने संस्कारों में अमानवीय और बर्बर रहेगी। जब तक कि आदमी अपने अहंकार को इन्सान के दुख-दर्द से बड़ा मानता रहेगा!

और वह मोहना?

उसका यह विश्वासघात?

इन दो शेष प्रश्नों को अपने मन और माथे पर लिये हुए दर्पन कानपुर को छोड़कर इलाहाबाद चला आया। सबसे दूर और अलग। कई महीने हुए बिरादरी की पंचायत से दर्पन के घर वालों ने दर्पन और उसकी पत्नी मोहना का तलाक कर लिया। दोनों एक दूसरे से मुक्त! तलाक के कागज पर इटावा के हाकिम के दस्तखत भी अब हो गये। सब कुछ हो गया। ब्याह से तलाक तक पूरी कथा। अब मोहना का दर्पन से कोई भी ताल्लुक नहीं। कोई सरोकार नहीं। यह सब ठीक है।

पर दर्पन को बिरादरी की वह पंचायत नहीं भूलती। एक ओर दर्पन के साथ उसके घर-परिवार के लोग बैठे थे, दूसरी ओर मोहना के लोग। तलाक के बाद मोहना की माँ ने उससे कहा था, “जा बेटी, पहुना से माफी माँग ले!”

उत्तर में मोहना ने कहा था, सिर झुकाये, ‘मेरे कौन हैं अब वे!’ दर्पन को मोहना का वह आँसुओं से सना हुआ उत्तर नहीं भूलता। इस भूल जाने के लिए कौन-सी पंचायत है? कौन-सा वह न्यायालय है?

अब दर्पन की कथा जब पूर्ण होकर अपने सम पर आने लगी, तब वह बुआ का खत उसके सामने फिर उड़ने लगा कि मोहना अब आगरे में पतुरिया....

ठीक है दुनिया के अकथ दुख-दर्द पुरुष के सहने के लिए बने हैं क्योंकि वह अपने पुरुषत्व के गर्व में उसे किसी से कभी नहीं कह सकता—पर यह कैसा दर्द है—जो कभी भूलता ही नहीं?

सच, सब कुछ याद रह जाना, कितना बड़ा दर्द है।

इसकी दवा क्या है?

दर्पन इलाहाबाद के कल्याणी देवी के उस मुहल्ले के अपने कमरे में बैठा रोज सोचता था। बैंक के दफ्तर में लोग उससे अनेक प्रश्न करते थे—उसका मजाक उड़ाते थे और वह मुस्करा कर रह जाता था। घर वाले उसकी दूसरी शादी के अनेक प्रस्ताव और उसका बुलावा भेजते थे। पर दर्पन बस यही सोचता था कि उस मोहना से भी तो उसकी एक शादी हुई थी। मोहना....मोहना....तब तो दर्पन कुवारा था। स्वप्न थे उसके भोले प्राणों में। अब तो दर्पन सिर्फ एक दर्द है। ऐसा दर्द जो कभी नहीं भूलता। तो इस दर्द से ब्याह करने में क्या लाम!

पूँस की रात थी। बाहर बे-तरह कुहासा फैला था। काफी रात बीत चुकी थी। दर्पन को नींद नहीं आ रही थी। किसी ने उसका बन्द दरवाजा खटखटाया। उसने धीरे-से दरवाजा खोला। देखा, कोई औरत खड़ी है।

“मोहना!”

“हाँ !”

“मैं सिर्फ तुमसे यह कहने आयी हूँ कि मेरी मृत्यु के बाद तुम कहीं मुझे दयावश माफ न कर दो....मैं....”

“आओ, बैठो तो !” दर्पन थर-थर काँपने लगा—जैसे वह कोई स्वप्न देख रहा हो। उसी दशा में दर्पन अपने कमरे में चारों ओर न जाने क्या ढूँढ़ने लगा, “आओ, बैठो तो....”

यह कहते-कहते वह अपने बगल के कमरे से कुर्सी लाने के लिए दौड़ा। लौट कर आया तो मोहना वहाँ से अदृश्य थी। उसने सामने शून्य में देखा, जैसे कोई गहन कुहासे को चीरकर अभी-अभी चला गया हो और पीछे उसका पदताल गूँज रहा हो, ‘मेरी मृत्यु के बाद कहीं मुझे दयावश माफ न कर दो....’



मछली रे तू सूखती क्यों नहीं

जब कभी कोयल बोलती है, तो उसी कोइली दीदी की याद आती है। और उसी के साथ ही रायबरेली वाली मौसी जी की वह कथा भी याद आती है।

एक था राजा।

उसके सात बेटे थे। एक बार ये सातों राजकुमार जंगल में शिकार खेलने गये। रास्ते में उन्हें एक नदी मिली। बड़ी सुन्दर नदी। खूब मछलियाँ थीं उसमें। राजकुमारों ने सात मछलियाँ पकड़ीं। सातों मछलियों को घर लाकर उन लोगों ने सुखाया। छह मछलियाँ तो सूख गयीं पर वह सातवीं नहीं सूखी।

तो राजकुमार उस मछली के पास गये और उससे पूछने लगे, “मछली रे मछली, तू सूखती क्यों नहीं ?”

“धूप नहीं लगती !”

“धूप क्यों नहीं लगती ?”

“दूब रोकती है।”

“दूब रे दूब, तू धूप क्यों रोकती है ?”

“मुझे गाय चरती जो नहीं !”

बस इतना सुनते ही हम लोग ठठाकर हँस पड़ते थे। मौसी जी भी हँसने लगती थीं। बस, वही अकेली कोइली दीदी नहीं हँसती थीं। उलटे हम सब बच्चों को वे तड़ातड़ मारने लगती थीं और हमें हँसने-बोलने से रोकना चाहती थी। मैं था, रम्मू था, मुन्ना और जगत था—हम सभी यही आठ-नौ साल के थे। हममें बड़ी थी तो बस वही कोइली दीदी ही। यही बारह साल की अवस्था। हम लोगों की हँसी की कट्टर दुश्मन। बस, मारने लगती थीं। मुझ पर तो उनकी खास निगाह थी। न जाने क्यों वे मुझे सबसे ज्यादा मारती थीं। कारण, मौसी जी की कथा के बीच सब से पहले मैं ही हँसता था। और बहुत ज्यादा हँसता था। कोइली दीदी उतना ही मुझपर आग बबूला होती थीं। और मौसी जी को वहाँ से उठाकर छत के उस एकान्त कमरे से नीचे आँगन में ले जाकर कहतीं, “मौसी जी! अब इन्हें मत सुनाइए कहानी। ये सब के सब चण्डाल हैं, पाजी हैं, उल्लू हैं।”

मौसी जी को हमारे बीच से जबरन जब कोइली दीदी उठा ले जातीं, तो हमें बहुत दुख होता था। पर कोइली दीदी उतना ही खुश होती थीं।

मौसी जी को नीचे आँगन में ले जाकर कोइली दीदी फिर वही कथा उनसे आगे सुनने लगती थीं। और हम सब बच्चे छत की मुँडेरि पर बैठकर आँगन में पैर हिलाने लगते थे। तब कोइली दीदी चिल्लाती हुई छत पर दौड़तीं और हमें भापड़ देती हुई कहतीं, “चण्डाल कहीं के, अगर अभी छत पर से गिर पड़ते तो!”

और मेरा कान पकड़े हुए वे मुझे खींचती हुई नीचे आँगन में ले आतीं। मेरे पीछे-पीछे मेरे वे साथी। फिर हम सब वहीं खाट पर जमकर आगे वह कथा सुनने लगते। कोइली दीदी पुलिस के सिपाही की तरह हमारे सामने खड़ी रहतीं। जोर-जोर से आँख तरेरती हुई।

“हाँ, भइया तो सुनो,” मौसी वही कथा आगे कहने लगतीं, “तो वे सातों राजकुमार गाय के पास गये और उससे पूछा—गाय री गाय

तू दूब क्यों नहीं चरती ?”

“ग्वाला मुझे चराता ही नहीं।”

“ग्वाला रे ग्वाला, तू गाय क्यों नहीं चराता ?”

“मेरी माँ खाना जो नहीं बनाती।”

फिर वही हँसो। और हम पर फिर वही कोइली दीदी की मार। सब लड़के तो डर के मारे अपने-अपने घर भाग जाते। मैं अकेला दीदी के सामने खड़ा रहता। सच, मुझे उनकी मार से जरा भी चोट नहीं लगती थी। पता नहीं किस तरह से वे मुझे मारती थीं।

मेरी मौसी जी के कोई बाल-बच्चा न था। मौसा जी रेलवे में थे—पार्सल बाबू। रायघरेली में मौसी जी का अपना निजी मकान था। मौसी जी के उस मकान के सामने ही गली थी। गली के पार ही कोइली दीदी का घर था। कोइली दीदी कुल पाँच बहनें थीं। पिता वकील थे—जात के सबसेना कायस्थ! आमदनी कम थी, खर्च ज्यादा! ऊपर से दीदी के पिता जी कुछ पीते-पाते भी थे। माँ के बड़े मिजाज थे—गुस्सा भी खूब, कारण, माँ अपनी जवानी में बड़ी सुन्दर थीं। और उस रूप का नशा उन पर अब तक मौजूद था।

यह सब मुझे उन्हीं कोइली दीदी ने ही बताया था। तब मैं वहीं मौसी जी के यहाँ रहकर छुट्टी कक्षा में पढ़ रहा था।

कोइली दीदी का असली नाम था पुष्पा। कोइली नाम दीदी की उसी माँ का ही दिया हुआ था। वह इसीलिए कि दीदी गहरे साँवले रंग की थीं। ऊपर से ईश्वर का और भी यह प्रकोप कि उनके चेहरे पर चेन्नक के बेतरह दाग थे। बदशकल दीदी। सो माँ ने संज्ञा दी थी—कोइली। दीदी की शेष चारों बहनें—एक बड़ी और तीन छोटी—सब माँ पर पड़ी थीं, गोरी और सुन्दर।

तब मैं आठवीं कक्षा में था। दीदी हाई स्कूल में पढ़ती थीं। तभी दीदी के जीवन में एक घटना घटी। दीदी को किसी ने पत्र लिखा था और दीदी उसी पत्र का जवाब लिख रही थीं। रात को बिल्कुल

एकान्त में। माँ ने अचानक आकर वह सब कुछ पकड़ लिया था। रंगे हाथों। दीदी बेचारी बेतरह पिटी थी। एक दिन नहीं, लगातार कई दिनों। बड़ो-बड़ो यातना हुईं दादो की, पर उन्होंने उस पत्र लिखने वाले का नाम नहीं बताया।

पर मुझे यह सब तब क्या मालूम ! मैं यह क्या जानूँ ? हाँ, इतना ही तब हुआ कि कई दिनों तक मैं दीदी को नहीं देख सका। पता लगा कि दीदी बीमार हैं। एक दिन मैं छिपकर दीदी को देखने गया। बाहर दरवाजे पर मैं चुपचाप खड़ा था। दीदी कमरे में खाट पर पड़ी कराह रही थीं। भीतर जाने की मेरी हिम्मत न होती थी। पर पता नहीं कैसे दीदी को मेरी गन्ध मिल गयी। उन्होंने मुझे बुलाया। मैं भीतर गया तो उन्हें देखकर काँप उठा। सारे शरीर में हल्दी पुती थी। कई जगह पट्टियाँ बँधी थीं। दायाँ ओर का मुँह सूजा हुआ था।

मुझे देखते ही दीदी का स्वर बदल गया। उसी डॉट भरे लहजे में बोलीं, “क्या रे ! तुझे पढ़ना-खिलना नहीं है क्या ? मैं जरा बीमार हो गयी तो क्या मर गयी ? अरे, दो-चार दिनों में अच्छी हो जाऊँगी। जा, अपने घर चुपचाप बैठकर पढ़ ! शैतान कहीं का……”

मैं उल्टे पाँव घर चला आया और उस दिन मैं पहली बार उस दीदी के लिए बहुत रोया। बहुत रोया।

मौसी जी किसी से बातें कर रही थीं। तभी मैंने सुना कि कोइली दीदी की पढ़ाई बन्द कर दी गयी। अब भविष्य में वह केवल घर में रहेंगी। घर में से बाहर निकलना उनका बन्द। बिल्कुल बन्द।

मैं कभी-कभी दीदी को देखने घर में जाता करता था। सुबह या शाम के वक्त जाता तो देखता कि दीदी घर का चौका-बर्तन कर रही हैं और शेष बहनें खेल-कूद या पढ़-लिख रही हैं। दिन या रात को जाता तो पाता कि दीदी अकेली चौके में बैठी भोजन बना रही हैं।

पर जब भी मैं दीदी के सामने पड़ता, दीदी मुझे बिना डॉटे-फटकारे न रहतीं।

“क्यों रे तुझे पढ़ना लिखना नहीं है क्या ? तू इस तरह आवादा बनेगा क्या ? पता है तुझे, तू इतनी दूर से अपने माँ बाप को छोड़कर यहाँ अपनी मौसी के यहाँ आया है, अगर तू यहाँ पढ़ेगा नहीं तो किसकी नाक कटेगी ? पर तुझे तो मेरी इन बातों की कोई चिन्ता ही नहीं है !”

मैं दीदी की बातों का कभी कुछ भी जवाब नहीं देता था। और देता भी क्या ? दीदी मुझे खूब जानती थीं। पर वे शायद यह नहीं जानती थीं कि मैं भी उन्हें खूब जानता था। उनका मातृवत हृदय, उनका प्रेम भरा अन्तस। उनकी कठोर वाणी में वह अन्तःसलिला स्नेह। वे यह खूब जानती थीं कि मौसी जी मेरे माँ बाप से माँगकर मुझे यहाँ ले आयी थीं। वह भी कुछ ही वर्षों के लिए। वही सन्तान सुख।

और यह भी सच था—जिसे कोइली दीदी भी जानती थी—कि यदि मुझे वह कोइली दीदी न मिली होती तो मैं एक वर्ष भी वहाँ रायबरेली मौसी के घर न रह पाता।

हाई स्कूल की परीक्षा देने के बाद ही पिता जी ने मुझे घर वापस बुला लिया। बस्ती शहर में। और कोइली दीदी मुझ से बहुत दूर हो गयीं। अक्सर उन्हें पत्र खिलने को सोचता, पर हिम्मत नहीं पड़ती थी। लगता कि दीदी सदा मेरे सामने खड़ी हैं—मैं उन्हें क्या पत्र लिखूँ—और कैसे लिखूँ ?

और इस बीच बहुत-सा समय बीत गया। मैं इण्टर पास करके प्रयाग विश्वविद्यालय में पढ़ने इलाहाबाद चला आया। इस बीच, मौसी जी के खतों से पता चला कि दीदी की बड़ी बहन की शादी हो गयी। फिर……उनसे छोटी बहन की भी शादी हो गयी।

और कोइली दीदी ?

उनकी कहीं शादी ही नहीं हो पा रही है। या उनके माँ बाप दीदी की शादी का प्रयत्न ही नहीं करते। या दीदी अपनी शादी ही

नहीं करना चाहती। या दीदी के पिता जी के पास उनकी शादी के लिए उतने पैसे ही नहीं हैं। जो भी कारण हो, मौसी जी के खतों से कुछ साफ नहीं पता चलता।

इस बीच मैंने बहुत डर-डर के दीदी को दो खत लिखे, पर मुझे उनका कोई भी खत नहीं मिला। पता नहीं, इस बीच मेरी उस दीदी का क्या हुआ!

एक दिन मुझे मौसी जी का खत मिला। उससे यह पता चला कि दीदी बीमार हैं। और दूसरे दिन ही मैं इलाहाबाद से रायबरेली पहुँचा।

मौसी जी ने बताया—कोइली दीदी पिछले बीस दिनों से टाइ-फाइड बुखार से खाट पर पड़ी हैं। उनकी कोई दवादर्पण नहीं। कोई तान्त्रिक आता है—जो आँगन में बैठकर मारन मन्त्र पढ़ता है कि दीदी की जीवन लीला समाप्त हो जाये!

दीदी मर जायें!

मैं इस कल्पना मात्र से ही काँप गया। वाह री कोइली दीदी! हे ईश्वर!

सन्ध्या समय मैं कोइली दीदी के घर गया। दरवाजे से भीतर घुसते ही, सामने ही मुझे दीदी की माँ मिली। आँखें चढ़ाये हुए। लिची हुई सारंगी की लय में बोलीं, “कैसे आये? तुम्हारी दो-दो चिट्ठियाँ आयी थीं। चलो तुम चिट्ठी लिखने लायक तो हो गये! आ हा हा SSS! कोइली कोई बीमार थोड़े ही पड़ी है। उस पर तो एक हवा का चक्कर है। चक्कर S S हाँ आँ SSS! बड़ी-बड़ी दवा करके हार गयी—अब तक साढ़े तीन सौ रुपये से ज्यादा ही खर्च हुए हैं। आज-कल एक दूसरी दवा हो रही है। उससे आशा है। हाँ, देखना कोइली से बात मत करना। मैं किसी को उसके कमरे में जाने थोड़े ही देती

हूँ। अरे वह बात ही ऐसी है। हाँ आँ SSS आँ SSS.....”

मैं दीदी के कमरे की ओर बढ़ा। पर देखता हूँ दीदी की माँ भी मेरे पीछे ही पीछे हैं। और अब मेरे आगे हो गयीं। दीदी के कमरे में जाकर बोलीं, “कोइली, मुन्नू आया है इलाहाबाद से!”

दीदी की आँख खुली। फिर बन्द हो गयीं। उस खुलने और बन्द होने में न जाने कितना बड़ा बाँध था कि वह टूटकर बह गया। इतनी गहरी नदी! इतना बँधा हुआ पानी! उसकी वह टूटती धार! और उसमें इतनी मछलियाँ, नीली, पीली, स्याह, सफेद और कंचनमयी।

माँ वहीं बक-बक-बक-बक करती हुई अपनी सारंगी छेड़ती रहीं। दीदी मौन। निःशब्द। किसी लोटी हुई प्रतिमा की तरह—जिसकी आँखें न जाने कब से मुँदी हैं और जिसमें हाहाकार कर रही है एक टूटती हुई नदी, उसकी उफनती हुई धार। जल और जल। अथाह पानी। जिसमें रंग-बिरंगी मछलियाँ तैर रही हैं। उल्टी धार में, पानी चीरती हुई।

सात राजकुमार और वे सात मछलियाँ।

छह मछलियाँ तो सूख गयीं, पर वह सातवीं मछली तो सूखी ही नहीं।

मछली रे मछली, तू सूखती क्यों नहीं?

धूप नहीं लगती।

धूप रे धूप, तू लगती क्यों नहीं?

दूब रोकती है।

जैसे मेरी आँखों में बैठी हुई मौसी जी हमें यह कथा सुना रही हों। मैं खिलखिलाकर हँसने लगा हूँ। और कोइली दीदी मेरा कान खींचकर मुझे तड़ातड़ मार रही हों।

मैं काठ के पुतले की तरह दीदी की माँ के संग उस कमरे से बाहर

निकल आया।

तो दीदी को मेरे वे दोनों खत नहीं मिले। भला मेरे उन खतों में ऐसा क्या था? पर वे खत तो थे।

अगले दिन जमादारिन को छोटी-सी लड़की, मौसी के घर में आकर पुकारने लगी, “यहाँ कोई मुन्नू बाबू हैं? मुन्नू बाबू?”

“हाँ, मैं हूँ मुन्नू बाबू!”

“नहीं, मुन्नू!”

“हाँ हाँ, मैं हूँ मुन्नू!”

“तुम हो मुन्नू! तुम्हें दीदी ने बुलाया है। कहा है उन्होंने, तुम मुझसे मिले बिना मत जाना।”

हाँ हाँ, नहीं जाऊँगा, नहीं जाऊँगा दीदी! तुमसे ही तो मिलने में यहाँ आया हूँ।

दीदी के उस आदेश से मैं फूला न समाया। आह, दीदी ने अपने मुन्नू को आदेश दिया है।

छत के ऊपर वाले कमरे में बैठकर मैं एकटक दीदी के दरवाजे की ओर निहारने लगा। दीदी के पिता जी दफ्तर गये। दोनों छोटी बहने स्कूल चली गयीं। दोपहर के समय दीदी की माँ भी बाजार की ओर गयीं।

मैं भागता हुआ दीदी के कमरे में गया। दीदी मुझे देखते ही पलंग पर बैठ गयीं। मेरा हाथ पकड़कर उन्होंने अपने पास बैठा लिया। बोलीं, “क्यों रे, लड़की के पलंग पर इस तरह बैठने में तुझे खूब मजा आता है न? बड़ा आचारा हो रहा है न तू? मैं बीमार हो गयी तो क्या अच्छी न हो जाती, जो इस तरह से तू अपनी पढ़ाई छोड़कर यहाँ भागा चला आया? चल उठ, मुझे एक गिलास पानी पिला। हँह, धम्म से आकर मेरे पास पलंग पर बैठ गया!”

कमरे में कहीं पानी न था। मैं भागा हुआ चौके में गया, वहाँ से लोटा और गिलास भरे दीदी के पास आया।

काँपते हाथ से मैं भरा हुआ गिलास दीदी को देने लगा। दीदी ने एक ही साँस में सारा गिलास पी लिया। फिर दूसरा गिलास और फिर तीसरा।

फिर से वही लोटा गिलास भरे मैं कमरे में आया। तब दीदी बोलीं, “यहाँ पानी मत रख। तू बड़ा बुद्धू है रे। अरे जब मुझे प्यास लगेगी, तो मैं खुद उठकर नल के पास जाकर पानी पी लूँगी न! मैं बीमार थोड़े ही हूँ—मुझपर तो हवा है हवा—जिसे वायु कहते हैं रे! देखती हूँ तू पगला का पगला ही रह गया।”

यह कहते-कहते दीदी हँस पड़ीं। और हँसते-हँसते पलंग से उठकर फर्श पर खड़ी हो गयीं। अपने हाथ को मेरे हाथ में देकर बोलीं, “देख न रे, मुझे अब भी बुखार है क्या?”

दीदी का हाथ सचमुच ठण्डा था—जैसे ठण्डा लोहा। मैं हैरान था। सच, वह वायु ही थी क्या? पर यह वायु क्या है?

मैं दीदी का पीला मुख निहारने लगा। वे झिड़क कर बोलीं, “हँह! लड़की का इस तरह मुँह निहारता है! निर्लज्ज कहीं का!”

दीदी ने बढ़कर अपने सिरहाने से एक आईना निकाला। उसे मेरे हाथ में पकड़ा कर बोलीं, “ले, इसी तरह मेरे आईने को थामे खड़े रहना।”

मैं उसी कोण से वह आईना थामे खड़ा था। दीदी ने अपनी साड़ी ठीक की। ब्लाउज के बटन बन्द किये। फिर उसी तरह खड़ी-खड़ी अपने केश सँवारने लगीं। और बीच-बीच में मुझे डाँटती भी रही “हँहSSS....शरम नहीं आती तुझे...कोई इस तरह जवान लड़की को देखता है भला! अरे आज महीनों बाद तो मैं अपनी चोटी कर रही हूँ! बोल, तुझे जूड़ा अच्छा लगता है कि चोटी?”

मैं चुप—जैसे कि कोई गूँगा।

दीदी ने हाथ नचाकर कहा, “आहा हाSSS....अब तो बड़ी शरम आ रही है न तुझे! ढोंगी कहीं का!....बता, नहीं तो अभी मारूँगी

तुम्हें, हाँ,....बोल तुम्हें चोटी अच्छी लगती है कि जूड़ा ?”

“चोटी !”

“बदमाश कहीं का ! इन्हें चोटी अच्छी लगती है ! कालेज के छोकरे हो न ! अरे, तुम लोगों को तो मार-मारकर....अच्छा बता, दो चोटी कि एक ?” बता, नहीं तो मारूँगी अभी !”

“एक !”

“हूँह S S S....एक चोटी ! कलजुगे कहीं के !....और ऊपर से शरमा भी रहा है। ठीक से आईना पकड़ न ! तेरा हाथ क्यों इस तरह से काँप रहा है रे ?”

कोइली दीदी ने चोटी कर ली। दौड़कर नल के पास गयीं। साबुन से हाथ मुँह धोकर फिर उसी तरह आईने के सामने उठ खड़ी हुईं। बोलीं, “ला, रूमाल है न तेरे पास !”

मैंने धीरे से दीदी के हाथ में रूमाल पकड़ा दिया। दीदी रूमाल से धीरे-धीरे अपना मुँह पोंछने लगीं। फिर आईने में अपने आपको निहारती हुई बोलीं, “मैं कैसी लगती हूँ ? बता न !”

मेरा सिर नीचे झुका था। दीदी ने मेरे गाल पर एक चपत मारकर जैसे मुझे जगा दिया। मैंने दीदी के मुख को देखा—दीदी कितनी सुन्दर लग रही थीं ! वह गहरा साँवला मुख अब भादों की वर्षा के बादल की तरह लग रहा है। चेचक के दाग उन भरे बादलों में जैसे छिप गये थे। और दीदी की वे गहन शान्त आँखें ! जैसे पहाड़ के भीतर की कोई भील। और दीदी की वह चितवन—जैसे शान्त नीली भील में दो रोहू मछली तैरती-तैरती सहसा रुक गयी हों।

दीदी कटे वृत्त की तरह पलंग पर गिर पड़ीं। मैंने फिर उन्हें पानी पिलाया। बड़ी देर तक आँखें बन्द किये उसी तरह पड़ी रहीं। मैं दीदी के पायताने खड़ा रहा। मेरे हाथ का वह आईना अब तक मेरे पास था। मुझे लग रहा था कि दीदी की वह सुन्दर छवि अब तक

उस आईने में उभरी हुई है।

एकाएक दीदी फिर पलंग पर उठ बैठीं। कहने लगीं, “तुम्हें से एक काम है मुन्चू ! करेगा न ?”

“हाँ, दीदी, क्यों नहीं !”

“ले यह मेरी चिट्ठी है, इसे लिये हुए तू किला बाजार चला जा। किला बाजार के अन्त में एक शिवाला है। शिवाले में चौका बर्तन करने के लिए सुबह शाम एक बूढ़ी औरत आती है। ग्वालिन नाम है उसका। बड़े जतन से यह चिट्ठी तुम उसी ग्वालिन को दे देना, हाँ !....हाँ, इसी में देखनो है तेरी सब होंशियारी ! बस....”

चिट्ठी को छिपाये हुए मैं तीर की भाँति उस घर से बाहर निकल आया। मेरा इतना बड़ा सौभाग्य कि दीदी ने मुझपर इतना विश्वास किया। आज दीदी ने इतना बड़ा काम मुझपर सौंपा है ! मेरा अहोभाग्य !

किला बाजार। फिर शिवाला। ग्वालिन तो अभी आयी ही न थी। वह ठीक पाँच बजे आती है। और अभी तो कुल दो ही बजे हैं।

“वह ग्वालिन कहाँ रहती है पुजारी महाराज ?”

“शिवाले के पीछे ही एक बाग है। बाग से आगे एक पक्का घर है। उसकी चहार दीवारी पार करके दायीं ओर एक मैदान मिलेगा। सामने से फिर बायीं ओर मुड़ते ही कदम्ब का एक पेड़ मिलेगा। उसके सामने ही ग्वालिन का घर है।”

मैं दौड़ता हुआ वहाँ गया। भाग्य से वहाँ ग्वालिन मिल गयी। मैंने उसे चिट्ठी दी। मन हुआ कि उससे कैफियत जानूँ। पर हिम्मत न हुई। चुपचाप लौट आया। दीदी को अपने इस काम की सूचना भी न दे सका। तब तक दीदी की माँ घर में आ गयी थीं।

दूसरे दिन, फिर उसी दोपहर के समय दीदी के कमरे में गया। दीदी जैसे बिल्कुल स्वस्थ हो गयीं। दीदी ने गुलाबी साड़ी पहन रखी

थी। आँखों में काजल लगाया था। केश-शृङ्गार किया था। और दीदी के मुख पर पाउडर लगा था।

“देख मुन्नु ! अब मैं अच्छी हो गयी न !”

“हाँ, दीदी, ईश्वर को धन्यवाद !”

“तू ईश्वर को मानता है ?”

“हाँ, मानता हूँ।”

“विश्वास है तुझे ?”

“हाँ, पूरा विश्वास !”

“तो बता, ईश्वर क्या है ?”

मैं चुप। निरुत्तर।

दीदी हँसने लगी, “अरे यह जीवन ही तो ईश्वर है। इस जीवन के भीतर जो प्रेम है यही ईश्वर का मुख है। इस मुख को देखना ही उसकी पूजा है। उसकी भक्ति है। और यह जो हमारे चारों ओर दारुन पीड़ा है न, यह मनुष्य की बनायी हुई है। प्रेमहीन मनुष्य। मेरा विश्वास है जिस दिन मनुष्य को वह मुख देखने को मिल जायेगा, मनुष्य पीड़ा-रहित हो जायेगा। मैं सच, उसी दिन की प्रतीक्षा कर रही हूँ। यह आज का मेरा जीवन वही प्रतीक्षा है। इसीलिए मैं प्रसन्न हूँ। मुझे कोई कष्ट नहीं। कष्ट की दुनिया तो केवल बाहर का का जगत है। जो मुझे कभी छू नहीं पाता। जैसे मछली की आँख होती है न, वह पानी में रहकर भी पानी के भीतर देखती रहती है। और उसमें पानी छू तक नहीं जाता। मैं वही आँख हूँ मुन्नु !”

“और वह मुख क्या है दीदी ?”

“अरे, उसे तू क्या समझेगा ! समय आयेगा तो तू स्वयं देख लेना। वह बताने की चीज थोड़े ही है। तू अभी बहुत नादान है !”

मैं रायबरेली से इलाहाबाद लौट आया। इस बीच फिर बहुत समय बीत गया। मैं बी. ए. पास हो गया। एक दिन मौसी जी की

चिट्ठी से पता चला कि कोइली दीदी की शादी हो गयी। रायबरेली से दूर जहाँ दीदी के पिता जी की जन्म-भूमि है—बसरा गाँव, वहीं से दीदी की शादी हुई है।

वाह ! दीदी की चुपचाप शादी हो गयी। कैसी हैं वे दीदी, उन्होंने अपनी शादी की मुझे सूचना तक न दी। कठोर दीदी ! मुझे इस तरह भुला दिया।

मैं भी धीरे-धीरे दीदी को भूल गया। बस, उसी समय मुझे उनकी याद आती थी, जब मुझे कहीं से कभी कोयल की आवाज सुनायी पड़ती थी—कूअरऽऽऽ, कूअरऽऽऽ....

एक बार मौसी जी बीमार पड़ीं। मैं अपनी माँ को साथ लिये हुए रायबरेली गया। दशहरे की छुट्टियों के दिन, छत के उस ऊपर वाले कमरे से मैं रोज शाम को दीदी के घर की ओर अनायास ही देखता रहता। सुनायी पड़ता कि दीदी के पिता जी और माँ में खूब झगड़ा मचा है। चिल्लाहट और शोरगुल। पर उस घर का दरवाजा सदा भीतर से बन्द रहता। सदा बन्द।

एक दिन दीदी के पिता जी को मैंने गली में जाते हुए देखा। बढ़कर मैंने उन्हें प्रणाम किया। पूछा, “कोइली दीदी की शादी कहाँ हुई है ? कृपा करके मुझे उनका पता बता दीजिए।” पिता जी ने मुझे पहले बहुत गौर से देखा। फिर थोड़ा खाँसने लगे और रूमाल से अपना मुँह पोंछकर बोले, “क्या करोगे पता ?”

“ऐसे ही।”

“ऐसे ही क्यों ?”

“शायद दीदी को मैं कभी खत लिखूँ।”

इस बात पर पिता जी ने अपनी गर्दन खुजलायी, बोले, “शादी तो उसकी लखनऊ के पास मलीहाबाद के करीब हुई है, लेकिन कोइली के शौहर कहीं गुजरात में नौकर हैं। वह वहीं गुजरात में ही

११० * मछली रे तू सूखती क्यों नहीं

अपने शौहर के ही साथ होगी। वहाँ का पता मुझे खुद नहीं मालूम !
माफ कीजिएगा....”

“माता जी को मालूम होगा ?”

“कैसे मालूम होगा ! जब मैं नहीं जानता, तो वह क्या जानेगी !”

“ठीक कहते हैं आप !”

मैं उदास रह गया। अब दीदी का पता भी न मिलेगा। जाओ
दीदी, विदा !

विदा मेरी कोइली दीदी !

मेरी दशहरे की छुट्टियाँ समाप्त होने को थीं। मौसी जी की
तवीयत बिल्कुल ठीक हो गयी थी। और मैं अपनी माँ के संग दो ही
चार दिनों में बस्ती लौटने वाला था। फिर वहाँ से इलाहाबाद।

उसी बीच, एक दिन ठीक दोपहर के समय वही जमादारिन की
छोटी-सी लड़की दीदी के घर के सामने, बन्द दरवाजे से टिकी खड़ी
थी। मैं किसी काम से बाजार जाने के लिए घर से बाहर निकला।
गली में दस-एक कदम आगे बढ़ा था कि देखता हूँ वही जमादारिन की
छोटी-सी लड़की मेरा रास्ता रोककर खड़ी हो गयी है।

“क्या है रे ?”

लड़की बस मुस्कराने लगी।

“अरे ! कुछ बोल तो सही !”

“बताऊँ !...कोइली दीदी घर में हैं, किसी को भी बताना नहीं,
हाँ !...तुम्हें बुलाया है !”

मेरे चारों ओर की धरती घूमने लगी। मेरी आँखें बन्द। जैसे मैं
किसी अथाह पानी में डूब रहा हूँ। और मेरे चारों ओर वही सतरंगी
मछलियाँ पानी के भँवर में नाच रही हैं।

मेरी जब आँख खुली तो मैं देखता हूँ वह छोटी-सी लड़की मुझे
इशारा दे रही है।

दीदी के घर के दरवाजे को मैंने पास से देखा। उसमें बाहर से
ताला लटक रहा है। मैं उस लड़की के पीछे-पीछे दीदी के घर के पिछ-
वारे एक तंग दरवाजे से उस घर में गया।

उसी कमरे में वहीं दीदी !

और वह दीदी शृङ्गार किये खड़ी हैं। अद्भुत शृङ्गार ! जैसे जय-
माला डालने के लिए कोई दूल्हन खड़ी हो।

“दीदी !”

“क्या है रे मुन्नु ? बता, अब मैं कैसी लगती हूँ ? बोल !”

“दीदी !”

“अरे ! तू रो रहा है रे ! छी: छी: छी: छी:। मैं तो बहुत आनन्द
से हूँ रे ! तुझे तो कोई तकलीफ नहीं, सच-सच बता मुझे, नहीं तो
अभी मारूंगी तुझे, हाँ !”

“हाँ, दीदी मारो मुझे ! इतना मारो कि आज मैं बेहोश हो
जाऊँ ?”

दीदी ने बढ़कर मुझे अपने अंक में बाँध लिया और खिल-खिला-
कर हँसने लगीं, “तुझे तो औरत होना चाहिए था मुन्नु ! बदमाश
कहीं का, रोता है इस तरह !...अरे, मेरी शादी बिल्कुल पक्की हो
गयी थी, लखनऊ के पास मलीहाबाद है न, उसी के करीब....”

दीदी फिर हँसने लगीं, “पर लड़के ने मुझे पसन्द ही नहीं किया।
और मैंने भी उस लड़के को नहीं पसन्द किया। साफ बात। अरे देखो
न, मैं तो प्रतीक्षा कर रही हूँ न ! मुझे क्या दुख ? मुझे क्या अपमान ?
मुझे जो मिलना था, वह तो बहुत पहले से ही मुझे मिल चुका है।
सवाल है धैर्य का, प्रतीक्षा का ! समझे बुद्धूनाथ ! बोल....!”

“कुछ नहीं समझा दीदी !”

“अच्छा बहुत बक-बक मत करो ! समय आने पर तुम सब समझ
जाओगे ! ठीक !”

“वह समय कब आयेगा दीदी ?”

“अरे मैं क्या जानूँ?...बस, आयेगा, इतना जानती हूँ।”

“कहाँ से आयेगा दीदी ? उसका पता क्या है ?”

दीदी हँसने लगीं। हँसते-हँसते लोटपोट।

मैं डर गया। दीदी कहीं पागल तो नहीं हो गयी हैं ! वह तान्त्रिक। उसका वह मारन मन्त्र। मैं थर-थर काँपने लगा।

“अरे ! तू तो काँप रहा है ! डरपोक कहीं का ?”

दीदी ने बड़े जोर से मेरा हाथ दबा दिया। लगा कि जैसे मेरी कलाई टूट जायेगी। मैं दीदी के सामने से हट गया और तेजी से घर के बाहर चला गया। पिछ्वारे तक दीदी की वही हँसी मेरे कानों में टकरा रही थी।

अगले दिन मैं चुन्चाप माँ को साथ लिये हुए बस्ती चला आया। वहाँ से फिर इलाहाबाद। पर मुझे बराबर यह लगता था कि दीदी की हँसी हर क्षण मेरा पीछा कर रही है।

जाड़ा बीत रहा था। इलाहाबाद में माघ-मेला भी खत्म हो चुका था। मैं अपनी एम० ए० फाइनल की परीक्षा की तैयारी में लगा था। और एक दिन मुझे दीदी का खत मिला। पहली बार वह दीदी का खत। एक विल्कुल नया पता।

दीदी ने मुझे बुलाया था। एक सौ आठ, पीपरगंज, किला बाजार रायवरेली।

यह कैसा पता है ? कहाँ है अब दीदी ? मैं रायवरेली पहुँचा। किला बाजार...कहाँ है पीपरगंज ? उसी शिवाले के पीछे बाग में वही रास्ता था—वही मेरा देखा हुआ। एक सौ आठ नम्बर ? वही कदम्ब का पेड़। वही सामने ग्वालिन का घर।

दरवाजे पर मैंने एक युवक को खड़ा देखा—खूब सुन्दर, गोरा चिट्ठा नौजवान। आँखोंमें विनय। मैंने उसे देखा...और जैसे देखता

ही रह गया। कदम्ब के पेड़ पर पपीहा बोलने लगा। दूर कहीं कोयल की कूक....

तभी मेरे सामने वह कोइली दीदी आ खड़ी हुई—सीमन्त में सिन्दूर भरा हुआ। मुख पर एक अवरगनीय छवि। आँख दर्पन की तरह गहन निर्मल।

लजाती हुई भट परिचय कराने लगीं, “देखो, यही है मेरा सुन्दर और यह तेरे जीजा जी हैं। नमस्ते कर !”

“नमस्ते।”

दीदी मुझे पकड़े हुए भीतर ले गयीं। अपनी गृहस्थी में। गरीब घर, पर खूब लिपा-पुता हुआ—स्वच्छ सुन्दर।

सामने खाट पर वही ग्वालिन बीमार पड़ी थी। वही ग्वालिन। एक महीने से खाट में गिरी हुई।

“माता जी, यही मेरा भाई मुन्नू है। चल, चरण छू माँ के !”

मैंने ग्वालिन के चरण छुए।

दीदी ने मुझे अपने संग एक खाट पर बैठा लिया। हँस-हँस कर बताने लगीं, “तुम्हारे जीजा हाई स्कूल पास हैं। वहीं पोस्ट आफिस में बाबू हैं। बोल, कैसे हैं ?”

“बहुत अच्छे दीदी।”

“अब तू सब समझ गया न ? मैंने कहा था न, वक्त आने पर तू सब समझ जायेगा ?”

“सच, मैं सब समझ गया। मौसी जी की वह अधूरी कथा भी पूरी समझ गया।”

मछली रे मछली, तू सूखती क्यों नहीं ?

धूप नहीं लगती।

उसे दूब रोकती है। दूब को गाय नहीं चरती। ग्वाला गाय को नहीं चराता। माँ ग्वाला को खाना नहीं देती। माँ ऐसा क्यों करती

११४ * मछली रे तू सूखती क्यों नहीं

है ? माँ के बच्चे रोते हैं। बच्चे क्यों रोते हैं ? उन्हें चींटी काटती है। चींटी क्यों काटती है ? अरे चींटी के भी प्राण होते हैं। सच, प्राण होते हैं ! प्राण और प्राण....वहो सुख, वही मछली....और आज वह कथा सम्पूर्ण हो गयी।



प्रेमपत्र

होस्टल की सारी लड़कियों को उसके प्रेम-पत्र के विषय में खबर हो चुकी है। खबर ही क्यों, जानकारी भी।

मंगल और शनिवार, इन दोनों में किसी भी एक दिन उपमा के कमरे में वह प्रेम-पत्र कोई डाल जाता है या न जाने किस तरीके से अथवा साधन से उसके कमरे में वह डलवा देता है।

कुमारी उपमा चतुर्वेदी, बी० ए० फाइनल, हिन्दी, रूम नम्बर तेरह, गर्ल्स होस्टल, आगरा।

प्रेम-पत्र लिखने वाले का नाम है, हरीश श्रीवास्तव। पत्र में तारीख और यहाँ तक कि समय, घड़ी तक का उल्लेख दिया रहता है, पर पता नदारद। उसी एक पैड का वही आसमानी कागज—इत्र और सेण्ट की खुशबू में डूबा हुआ। वही नीली स्याही और वही मोनी की लड़ियों वाली लिखावट।

लड़कियों के उस होस्टल में आज तक कभी ऐसी घटना नहीं घटी थी। एम० ए० फाइनल और रिसर्च की सीनियर लड़कियाँ इसका हिसाब-किताब लगाती हैं। इसी गत जुलाई की बात है, मिस मोहिनी गुप्ता तब होस्टल की नयी सुपरिण्टेण्डेण्ट होकर आयी थीं। उन्हीं के

नाम की एक लड़की होस्टल में थी—बी० ए० की छात्रा। सो मिस साहब का एक प्रेम-पत्र उसी लड़की को मिल गया ! बड़ी सीधी-सादी थी वह लड़की। बेचारी उस पत्र को पढ़ कर वह धार-धार रोने लगी थी। सारी लड़कियाँ उसके कमरे में घिर आयी थीं। तभी उपमा चतुर्वेदी ने उस रहस्य का उद्घाटन किया था कि वह प्रेम-पत्र इस छात्रा का नहीं हमारी मिस सुपरिण्टेंडेंट साहब का है। और तब उसने दिखाया कि मिस साहब का एक प्रेम-पत्र उसके भी पास है।

और तब मिस मोहिनी गुप्ता के वे दोनों प्रेम-पत्र पूरे होस्टल में पढ़े गये थे। आज वे लड़कियाँ इसी का हिसाब जोड़ रही हैं कि उसके बाद ही उसी महीने में उपमा चतुर्वेदी के पास वह पहला प्रेम-पत्र आया था।

उपमा बहुत सुन्दर लड़की है। इसके पहले वह उतनी ही सीधी सादी भी थी। उस पहले प्रेम-पत्र को पाकर वह भी उसी तरह फूट-फूट कर रोयी थी। एक-एक को उसने अपना वह प्रेम-पत्र दिखाया था। और अन्त में उसने वह खत मिस गुप्ता को देकर उसकी रिपोर्ट की थी।

पर एक खत, दो खत, तीन खत—हर सप्ताह में एक खत ! यह तो बड़ी गजब बात है ! और उपमा अब तो अपने उन खतों के लिए गौरवान्वित भी है। वह बड़े अभिमान से वे खत लड़कियों को दिखाती फिरती है। लगता है, अब वह उन खतों का उसी तरह उत्तर देती है और बस उसका बाकायदा प्रेम-प्रसंग है, उसका जीवन है। होस्टल की सीनियर लड़कियाँ अब उपमा के खिलाफ हैं। और उपमा अब इसके लिए पूरी तरह बदनाम भी हो रही है। पर उपमा तो अब मस्तमौला है। बेखबर, अलमस्त। वही ठहाकेदार हँसी। वही बड़ी-बड़ी बातें। मिसा गुप्ता ने एक दिन अपने बंगले पर उसे बुला कर इसके लिए डाँटना चाहा, तो उपमा ने बड़े ही निश्चय और विश्वास से उन्हें उत्तर दिया—“मिस साहब, अगर आपके पास प्रेम-पत्र आ सकते हैं, तो मेरे

पास आने में बुराई क्या है ?”

“ठीक है, पर तुम्हें इस तरह यह पत्र लिखने वाला कौन है ?”

“कौन है ?”

“हाँ, कौन है वह ?”

“जाहिर है, वह मेरा प्रेमी है।”

“तुम यहाँ पढ़ने आयी हो कि प्रेम करने ? फिर तो तुम्हें इस होस्टल से निकलना होगा। तुम्हारी वजह से इस होस्टल की इतनी बदनामी मैं नहीं सह सकती। तुम्हें इस कालेज से भी निकलना पड़ेगा। तुम कितने अच्छे घर-परिवार को लड़को हो ! यह क्या है तुम्हारा चरित्र ?”

उपमा का सीना तो पहले तना था, पर जैसे-जैसे मिस साहब उसे डाँटती-समझाती गयीं, उसका माथा धीरे-धीरे झुकता गया और एक बिन्दु पर आकर वह रो पड़ी।

तब मिस गुप्ता ने उसे अपने पास बिठा कर बड़े ही आर्द्र स्वरों में समझाना चाहा—“सुनो, उपमा, मेरी और तुम्हारी अवस्था में बहुत फर्क है। मैं चालिस वर्ष की हो रही हूँ। और तुम्हारी उमर अभी कुल पच्चीस वर्ष के पास है। मैं अब तक अकेली थी—निरी अकेली। मेरे साथ अब तक सिर्फ मेरा अहंकार था—रूप-यौवन का अहंकार, धन-पद का अहंकार। पर एक दिन मैंने अनुभव किया कि मेरा अहंकार मेरा छल था। ऐसा छल जो किसी की छाती पर उगे हुए ठूँठे वृक्ष की तरह है। निर्मम वजनी विषाक्त बोझ। फिर मैंने अपने अकेलेपन को एक दिन तोड़ना चाहा। पर तब मैंने पाया, यह तो बहुत देर हो चुकी है, पर अभी जीना जो है। जीने की विवशता। तब पहली बार मैंने किसी को वह पत्र लिखा था और उसने मुझे जवाब दिया था.... वह दया-पत्र, जिसे तुम लोग मेरा वह प्रेम-पत्र कहती हो। विश्वास करो, मैं नहीं जानती, प्रेम कैसा होता है और प्रेम-पत्र कैसा होता है। मैं तो सिर्फ यही जानती हूँ कि चालिस वर्ष तक आते-आते कोई भी

स्त्री अकेली नहीं रह सकती। अगर वह अकेली रह सकती है, तो वह स्त्री नहीं रह सकती। पर सोचो, उसे प्रेमी कहाँ मिल सकता है? काश उसे कोई साथी ही मिल जाय! पर उसे साथी भी कहाँ मिल सकता है? काश उसे कोई सहारा मिल जाय! पर उसे सहारा भी कहाँ मिल सकता है? काश उसे कोई भ्रम ही मिल जाय....!"

यह कहते-कहते मिस गुप्ता की आँखें सजल हो आयीं। उनका सारा कण्ठ भीग गया। फिर वह काँपते स्वरों में बोलीं—“वह मेरा प्रेम-पत्र नहीं था, उपमा, वह मेरा वही भ्रम है, जिसके सहारे मैं जीना चाहती हूँ तुम मुझे इतनी भी माफी नहीं दोगी क्या? बोलो? मैं तो तुम्हारी टीचर भी हूँ। तुम मुझे इतनी भी दया न दोगी?”

उपमा ने सिर उठा कर मिस साहब को देखा, उनके चेहरे के सारे मेकअप को तोड़ कर पसीने की बूँदें मुँह पर बरस आयी थीं। भरी-भरी उदास आँखें, जैसे न जाने कितनी रातों से वह उसी तरह जगी बैठी हों।

उपमा का दिल काँप गया। उसने मिस साहब से माफी माँगी। तब मिस गुप्ता ये बड़े स्नेह से उससे पूछा—“यह हरीश श्रीवास्तव कौन है?”

“मेरा....”

“हाँ....हाँ, वह तो ठीक है पर यह है कौन? विश्वास रखो, मैं किसी को कभी कुछ नहीं बताऊँगी।”

“यह मथुरा में रहते हैं— डैम्पियर नगर में। वहाँ यह डिप्टी एस० पी० हैं।”

ओ हो! बधाई! अच्छा, यह बताओ, तुम्हारे कमरे में उनकी चिट्ठियाँ कैसे आ जाती हैं?”

“सच-सच बता दूँ, मिस साहब?”

“हाँ, मैं किसी को नहीं बताऊँगी।”

उपमा बड़ी देर तक चुप रही। उसकी गोरी कलाइयों में काँच की

चूड़ियाँ रह-रह कर खनकती रहीं। उसकी कनपटियों पर जुल्फ की दो मासूम लट्टें उड़ती रहीं और वह उन्हें संभालती हुई लाज भरे मुख से बोली—“उनका पत्र मुझे कॉलेज में ही मिल जाता है। वह मथुरा से किसी के हाथ बराबर भेज देते हैं। या वह....”

“वह खुद तुमसे मिलने नहीं आते?”

“जी, आते क्यों नहीं, पर कम आ पाते हैं। तभी तो यह पत्र भेजते हैं।”

“ओ हो!”

मिस गुप्ता के दोनों ओठ खुले रह गये। वह अपने बरामदे के सिरे पर, जहाँ चमेली की लतरों की घनी छाँह थी, उसके परे देखने लगीं—भाँकते हुए उस थोड़े-से आकाश को, जो दिसम्बर के माह में जैसे चुपचाप खड़ा है। हेमन्त बीतेगा, बसन्त आयेगा। और यह नीला आकाश तब यहाँ से चुपचाप चल देगा—वासन्ती पाग बाँध कर। फिर यहाँ कौन खड़ा रहेगा? वही सूना आकाश....वही अकेला आकाश....उसका यही छोटा-सा टुकड़ा।

उपमा मिस साहब के पास से उठ कर जाने लगी।

बरामदे से नीचे छोटे से लॉन को पार कर मेंहदी की कटी झाड़ियों के बीच गेट से वह बाहर की चली। मिस गुप्ता ने सहसा उसे पुकार कर रोक लिया। मिस साहब उपमा के पास चली आयीं। तीसरे पहर का सूरज जैसे उसके माथे पर झुक आया था। जैसे उन्हें उस समय बहुत तेज धूप लग रही थी। आँखों पर धूप का चश्मा। उसके भी ऊपर माथे पर उठा हुआ वह कुसुमी रंग का आँचल। आँचल के नीचे मिस साहब का वह चेहरा, अजीब पीला-पीला लग रहा था। उपमा सीधी उस कोमल धूप में नहाती हुई खड़ी थी।

मिस साहब ने धीरे से पूछा—“फिर तुम उनसे शादी क्यों नहीं कर लेती? शादी में कोई अड़चन है क्या? बोलो?”

उपमा चुप थी।

तब मिस साहब खुद बोलीं—“हाँ, तुम्हारी शादी में तो अड़चन जरूर है। कहाँ वह हरीश श्रीवास्तव और कहाँ तुम उपमा चतुर्वेदी ! क्यों ?” मिस गुप्ता हँसना चाह रही थीं।

उपमा अब भी चुप थी। उसने अपने मुँह का रुख जरा-सा दायों ओर कर लिया था। और इस तरह अब सूरज की किरणों सीधी उसके माथे पर पड़ रही थीं।

मिस गुप्ता ने उसका बायाँ हाथ थाम लिया और बड़े भीगे स्वरों में बोलीं—“इस बार जब वह यहाँ आयें, तो उनसे मेरी भेंट कराना, हाँ ! बोलो, वादा करो न ! अरे, तुम तो कुछ बोल ही नहीं रही हो ! मुझसे तुम डरती हो क्या ? क्यों ? अरे....!”

और इस बार मिस गुप्ता हँस पड़ीं। उपमा की हथेली पर हाथ मार कर हँसती रहीं। फिर शरमाती हुई बोलीं—“मेरे पास तो रोज कोई न कोई चिट्ठी आती है। समझी न ! हाँ....! फिर मुझसे तुम्हें क्या डर ! समझी न ! हाँ—! एक नहीं, कई-कई....!”

उपमा तेज कदमों से होस्टल चली गयी। अपने कमरे में जाकर उससे और कुछ भी नहीं सोचा जा रहा था। उसे लग रहा था, उसके कमरे में उसके दिवंगत पिता श्री सुरेन्द्रनाथ चतुर्वेदी एकसाइज कमिश्नर खड़े हैं और उसके दायें-बायें उसकी विधवा माँ और मिस गुप्ता खड़ी हैं। कमरे के बाहर वह हरीश बाबू खड़े हैं। और सबके सब चुप हैं। अवाध चुप, मौन।

उपमा पसीने से तर हो गयी। उसने बढ़ कर अपना बन्द कमरा खोल दिया और वह होस्टल के सूने बरामदे में घूमने लगी। होस्टल की सारी लड़कियाँ कालेज से पढ़ कर अभी तक नहीं लौटी थीं। उपमा कल भी कालेज नहीं गयी थी। आज भी नहीं। वह चुपचाप उसी बरामदे में निरुद्देश्य घूमती रही, घूमती रही। फिर वह

रेलिंग के पास आकर होस्टल के सूने आँगन में निहारने लगी। उसी प्रतीति के सन्दर्भ में डूबा हुआ वह इटावा शहर, गनेशगंज का वह मुहल्ला—चतुर्वेदी टोला—जहाँ उपमा की जन्मभूमि है, उसका घर है। उसी के बीच में सिर्फ एक ही घर कायस्थ का है जहाँ उस हरीश ने जन्म पाया था। वहीं की सड़कों, गली-कूचों और सहज प्रकृति के बीच वह कुछ प्रस्फुटित हुआ था, जिससे वह दोनों ही एक संग बहुत आगे मंगल की ओर बढ़ आये थे।

तब उपमा के पिता जी जीवित थे। उस समय वह मुरादाबाद में नियुक्त थे। तभी उपमा और हरीश की वह बात पहली बार पिता जी के कान में पड़ी थी, बल्कि डाली गयी थी। कहा था उपमा की माँ ने, काफी तैयारी के साथ, मानवीय भूमिका बाँध कर, बड़ी ममता और सहानुभूति से, जिसमें से यह भाव-संकेत झलक रहा था कि जब दोनों एक दूसरे को इतना चाहते हैं, लड़का भी जब इतना अच्छा है, इतनी अच्छी सरकारी नौकरी में आ गया है, तो दोष क्या है ?

“किस चीज में दोष ?”

“दोनों के ब्याह में।”

“उपमा चतुर्वेदी का ब्याह हरीश श्रीवास्तव के संग ? तुम पागल तो नहीं हो गयीं !” और जिस निगाह से कमिश्नर साहब ने पत्नी की ओर देखा था, वह अद्भुत थी। जैसे आग बरस रही हो उनकी आँखों से ! वेहद वजनी आवाज में उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा, “यह शादी नहीं होगी, सुन लिया न !”

माँ ने चुपचाप सुन लिया।

उपमा ने भी सुन लिया और उस हरीश ने भी। पर यह शादी क्यों नहीं होगी, इस सवाल के प्रश्न-उत्तर की स्थिति कमिश्नर साहब ने नहीं आने दी। जैसे कितनी जल्दी थी उन्हें कि किसी को कुछ सवाल-जवाब का उन्होंने कोई मौका ही न दिया ! एक दिन वह सुबह ही सुबह अपने हाथ से दाढ़ी बना रहे थे—जिस तरह कि वह गत तीस

घण्टों से नित्यप्रति बनाते चले आ रहे थे, ठीक उसी तरह। पर उस दिन हुआ यह कि ऊपरी ओठ में जरा-सा ब्लेड लग गया और चौबीस घण्टे के भीतर ही सर्वनाश हो गया। सेप्टिक, प्वाइजन, पैरोलिसिस और मृत्यु।

नाटक खत्म। इतनी तेजी से सूत्रधार ने परदा गिराया कि सारा मंच हिल गया। सब कुछ डाँवाँडोल....

पर उपमा के भीतर जो शाश्वत था, कोमल था, वह जरा भी न हिला। वह सारा बना रहा अकम्प....अबाध....अमित....

उपमा आज भी होस्टल की उस रेलिंग पर खड़ी देख रही थी कि होस्टल के आँगन में बिछे हुए हरे कार्पेट की तरह वह बड़ा-सा लॉन जैसे सो रहा है और उसके किनारे-किनारे एक्रोक्लीनम, फ्लाक्स, पैंजी, नेन्ट्रेशियन और डेहेलिया की क्यारियाँ जैसे हिल रही हैं। रगबिरंगी स्वीटपीज की लतरें जैसे डोल-फिर रही हैं। लॉन पर अकेला एक खंजन पत्नी काँप-काँप कर इधर-उधर दौड़ रहा है।

पर उपमा निश्चल खड़ी ऊपर से यह सब कुछ तक रही है। पर वह देख रही है इस सबके पार—अपनी ममतामयी महान विधवा माँ को, जो उपमा से निःशब्द कह रही है, 'बेटी, तेरे पिता यदि आज जीवित होते, तो मैं उनसे भी ऊपर उठ कर तेरी यह शादी जरूर कर देती। पर आज जब वह नहीं हैं, तो मैं उनका विरोध कैसे कर सकती हूँ! सोच बेटी, उनकी दिवंगत आत्मा हमें तब क्या कहेगी! फिर तो यही होगा कि उनको आत्मा यह सोचेगी कि इसी के लिए माँ-बेटो ने मेरी मौत चाही थी!'

सामने लॉन से वह खंजन एक्रोक्लीनम की भरी हुई क्यारी के ऊपर से उड़ गया। उपमा उसी ओर निहारने लगी। पश्चिम की सर्द हवा का भोंका आया और उपमा के मुख, कान, आँख को छू कर चला गया। तब सहसा उसे पता चला कि आस-पास के कमरों में लड़कियाँ आ गयी हैं और रूम नम्बर चौदह और बारह में उनकी सम्मिलित हँसी

फूट रही है।

एक दिन उपमा बहुत सज-धज कर कालेज गयी। खूब शृंगार—चटकली साड़ी, जूड़े में पुप्प, ओठों पर लालिमा, आँखों में काजल, गले और हाथ में गहने। कालेज से होस्टल लौटी तो बेहद खुश। सारी लड़कियों को अपने कमरे में बुला कर उन्हें अपने हाथ से चाय और नाश्ता।

उपमा हँस-हँसकर लड़कियों को बताने लगी कि आज स्वयं मथुरा से वह कालेज में उससे मिलने आया था। फिर उस भेंट की सारी बातें उपमा बताने लगी। सारी बातें, पूरे अभिनय के साथ, हँसी के गुब्बारों के बीच।

फिर उपमा ने आज पहली बार लड़कियों के सामने उसका फोटो भी दिखाया। बड़ा ही सुन्दर तथा आकर्षक व्यक्तित्व। और वह फिर उसके एक-एक गुण और स्वभाव की चर्चा करने लगी—ऐसी विशद चर्चा कि बखान करते वह न अघायी।

सारी सोनियर लड़कियाँ कहती—यही दोष है उपमा का। माना कि प्रेम है—बहुत बड़ा प्रेम है। पर इस तरह उसका विज्ञापन क्या! उसका इस तरह टिटोरा क्या पीटना! खुद बदनाम होना और पूरे होस्टल का वातावरण खराब करना। कालेज में वही प्रेम-चर्चा, वही बातें होस्टल में और वही किस्से-कहानियाँ हर समय। सबका आधार वही प्रेम, वही प्रेम-पत्र, वही प्रेमी-प्रेमिका।

सिर्फ सोनियर लड़कियाँ ही नहीं, होस्टल की जूनियर लड़कियाँ भी उपमा को अच्छी नजर से नहीं देखतीं। कहतीं कि उपमा के साथ रहना अच्छा नहीं है। शी इज ए बैड कैरेक्टर!

पर उपमा का ऐसा निश्चल हँसमुख स्वभाव है कि लड़कियाँ उसकी ओर आकर्षित हुए बिना रह नहीं सकतीं। किसी को भी किसी भी समय चाय पीने की जरूरत हुई, तो वही रूम नम्बर तेरह। किसी

को अच्छी साड़ी की चाह हुई, तो वही उपमा द प्रेट । किसी को चाहे जिस तरह की कॉस्मेटिक्स की जरूरत हुई, तो वही जूलियट उपमा ।

उपमा खुले हाथ से लड़कियों की सहायता ही नहीं करती, उनके मजाक को भी वह बड़े खुले दिल से लेती है । उसके प्रेम-प्रसंग को लेकर चाहे जो मजाक करे, व्यंग्य-वाण चलाये, वह ठहाका मारकर हँसेगी और हँसती रह जायेगी । किसी की भी बात का कभी कुछ बुरा न मानना । जैसे उपमा उस पूरे होस्टल भर में सब से बड़ी, सबसे सोनियर हा ।

और पढ़ाई-लिखाई में माशाअल्ला ! दिन-रात श्रृङ्गार, प्रेम-प्रसंग, प्रेम-पत्र-चर्चा, तो इसमें पढ़ाई-लिखाई कहाँ ?

बाद में होस्टल की लड़कियों को और भी आश्चर्य हुआ । उनकी सुपरिगटेण्डेड मिस गुप्ता अक्सर राउण्ड लेती-लेती रूम नम्बर तेरह में चली जाती । घण्टों उपमा से बातें करती । उसके संग सखी की तरह हँसती-बोलती । और लड़कियों से उपमा का प्रसंग आते ही मिस साहब उन्हें बड़े स्नेह से समझाती, “अरे भाई, वह प्रेम-पत्र ही तो लिखती है । प्रेम-पत्र ही तो उसके पास आता है । छोड़ो, बेचारी को इतना तो माफ करो । हाँ, और क्या ! आन द होल भली लड़की है उपमा । प्रेम एक ही से तो वह करती है । अगर वह कई से करती होती, तो मैं ऐक्शन लेती । वैसे मैंने उसे वार्न कर रखा है । मेरी बात मानती है वह । हाँ....हाँ, कोई बुरी लड़की नहीं है वह । ठीक है....”

पर ईश्वर की जैसी मरजी ! उपमा की प्रेम-कथा कालेज की प्रिन्सिपल मिस चौधरी तक पहुँच गयी ।

पहले तो प्रिन्सिपल की ओर से उसे यह लिखित वार्निंग मिली कि वह कालेज में इस तरह श्रृङ्गार करके नहीं आयेगी । दूसरे कालेज ऑवर्स में वह विजिटर्स से नहीं मिलेगी । तीसरे होस्टल की सुपरिगटेण्डेड मिस गुप्ता के पास भी इसके बावत कुछ लिखा-

पढ़ी हुई ।

पर जैसे उपमा को इन बातों की कोई परवाह नहीं । ठीक है, वह कालेज ऑवर्स में किसी विजिटर से नहीं मिलने पायेगी, पर कालेज ऑवर्स के बाद ? उत्तर में वही ठहाकेदार हँसी ।

ठीक है, चिट्ठियाँ हाथ से नहीं आयेंगी, पर भारत सरकार का पोस्टल विभाग तो नहीं बन्द हो गया ! और फिर वही मस्ती-भरी हँसी ।

ठीक है, कालेज में श्रृङ्गार करके नहीं जायेगी, पर कालेज के बाद ? फिल्म-हीरोइन की अदा में उपमा अपनी आँखें नचाने लगती और वही हाहाकार करने वाली हँसी ।

और एक दिन सुबह ही सुबह होस्टल की लड़कियों ने देखा, मिस गुप्ता के साथ उपमा की माँ होस्टल में आ रही हैं ! लड़कियों को प्रसन्नता हुई कि अब पता चलेगा उपमा को ।

और, सच, पता चला भी खूब ।

चौबीस घण्टे उपमा की माँ होस्टल में रहीं । खूब फटकार पड़ी उपमा पर ! माँ मिस साहब और प्रिन्सिपल के पास जाकर रोयीं । पता चला कि उपमा का वह प्रेमी हरीश श्रीवास्तव विवाहित पुरुष है और उसकी शादी हुए आज दो साल हो गये हैं ।

इस तरह रो-धोकर उपमा की माँ वहाँ से चली गयीं ।

पर दूसरे ही दिन फिर वही उपमा पूरे होस्टल में घूम-घूमकर बुलबुल की तरह चहकती रही ।

“अजी, शादी होने से क्या हो गया, वह प्रेमी तो मेरा ही है ! देखो न उसकी चिट्ठियाँ !”

फिर वही चिट्ठियाँ और चिट्ठियाँ !

वही प्रेम-कथा । वही प्रेम-प्रसंग । वही प्रेम-विषय ।

लड़कियाँ अब और भी बुरी निगाह से उपमा को देखने लगीं । बात भी सच है । क्यों नहीं ?

पर उपमा के उल्लास में जरा भी फर्क नहीं। वह अपने साथ की लड़कियों को समझाती है—“प्रेम तो एक भाव है; एक अनुभूति है। शादी तो मेरी ही उनसे पक्की थी, महज बाहरी जात-पाँत के ढकोसले के नाते शादी रुक गयी। पर शादी तो भीतर से हो ही गयी है। उन्होंने वह दूसरी शादी खुद थोड़े ही की है, उन्हें तो वह विवश होकर करनी पड़ी है। तो शादी विवशता तो नहीं है। असली शादी तो हम हैं! हमारा प्रेम है। इसमें किसी कर्मकाण्ड की क्या जरूरत!”

यह बात सुनकर सारी लड़कियाँ उपमा के सामने छी: छी: छी: करने लगतीं और वह उसी तरह टहाका मारकर हँसती और हँसती-हँसती लोट-पोट हो जातीं। फिर कहती, “ऐसा न होता, तो वह मेरे बगैर इस तरह पागल क्यों रहते? क्यों वह इस तरह से मुझे प्रेम-पत्र लिखते? इसमें उनका और मेरा क्या दोष? और अगर दोष ही देना है, तो उसी प्रेम को दो। प्रेम हमने थोड़े किया है, प्रेम तो हो गया है!” और उपमा फिर प्रेम की डायरी सुनाने लगती; मीर, गालिब, फिराक, जिगर की गजलों, रवाइयाँ। और खुद ही वह लड़कियों के बीच घिरी वाह-वाह करने लगती।

बी. ए. फाइनल की परीक्षा के दिन आ गये। उपमा खुद तो एक अच्छर कभी पढ़ती नहीं, वह साथ की लड़कियों को भी नहीं पढ़ने देती। फिर तो एक दिन वही हुआ जिसकी न जाने कब से आशंका थी। उपमा को होस्टल से निकल जाने का आर्डर मिला। तीन दिन का समय, ताकि इस बीच वह कहीं अपने रहने का प्रबन्ध कर ले। उपमा होस्टल से निकाल दी गयी!

तीर की तरह यह खबर इटावे पहुँचकर उपमा की विधवा माँ को लगी। पीड़ा से तड़पती हुई बेचारी माँ दौड़ी हुई आगरे आयी। वह आखिरी दिन था। नहीं, नहीं, यह तीसरा दिन बीत चुका था। उपमा का सामान उसके कमरे से निकल कर मिस साहब के बंगले के

बरामदे में पहुँच चुका था। होस्टल की सारी लड़कियाँ प्रसन्न थीं।

एक ओर मिस साहब खड़ी थीं, दूसरी ओर उपमा की रोती हुई माँ थी, बीच में वही उपमा खड़ी थी—निश्चल और गम्भीर।

मिस साहब ने कहा, “हमें विवश होकर उपमा को होस्टल से निकालना पड़ा है।”

माँ निरुत्तर रो रही थीं।

मिस साहब बोलीं, “मेरे पास भी अनेक पत्र आते हैं, पर जिस तरह से यह उपमा अपने प्रेम-पत्र को विज्ञापन करती घूमती है, वह तो सरासर गलत है न! ऐसे भी कोई करता है! मैंने इसे इतना समझाया, पर इसे कुछ भी होश न हुआ। मैंने इसे कितनी बार कहा कि तुम मुझे अपने उस हरीश से एक बार मिलवा दो, मैं सब टोक कर लूँगी, पर यह तो कुछ समझती ही नहीं! इसने मुझपर भी विश्वास न किया, मैं क्या करती!”

उपमा वहाँ से हटकर बाहर लॉन में चली आयी—माँ और मिस साहब की बातों से दूर—निस्संग।

सहसा माँ के आँसू रुक गये। उन्होंने मिस साहब के सामने अपना आँचल पसार कर कहा, “मुझे आप पर पूरा विश्वास है, मिस साहब! मैं आज आपसे एक भीख माँगती हूँ। आप टीचर हैं। आप में अगर दया और सहानुभूति है……”

“जी, कहिये।”

माँ ने अजब करुण स्वर में कहा, “मिस साहब, आपके पास तो बहुत प्रेम-पत्र आते हैं, कृपाकर एक पत्र मेरी बेटी के लिए भी……”

मिस गुप्ता मानो चीख उठीं।

“यह क्या कह रही हैं आप?”

माँ थरथराते कण्ठ से बोलीं, “मेरी बेटी निरपराध है। अपराधी तो हम हैं। बेटी के जितने सपने थे उसकी जितनी आकांक्षाएँ थीं उनमें से हमने एक को भी पूरा न होने दिया!”

मिस साहब का चेहरा पीला पड़ने लगा था।

माँ अपने उमड़ते हुए आँसुओं को पीती हुई बोली, “उसने तो तभी अपनी शादी कर ली। तब से वह एक बार भी न मिला। कभी इसे एक पत्र भी न लिखा। मैं इसे समझाकर हार गयी—यह तेरा कैसा प्रेम है पगली? पर यह तो कभी मानती ही नहीं। कहती है, उनके न मिलने, न पत्र लिखने से क्या होता है, मैं जो जिन्दा हूँ! मुझे और क्या चाहिये?”

मिस गुप्ता सिर थामे वहीं कुरसी पर मानो गिर गयीं।

उपमा लॉन में खड़ी होस्टल का और निहार रही थी। होस्टल की कुछ लड़कियाँ ऊपर रेलिंग पर खड़ी उपमा की ओर देख रही थीं। उपमा हँस-हँसकर मानो उनसे बातें कर रहो थीं।

उपमा को माँ ने आँचल से अपने आँसू पोंछते हुए कहा, “मिस साहब, जरा सोचिये तो भला, इतनी बड़ी लड़की इस तरह अकेले कैसे रह सकती है? यह तो किसी लड़के से बात तक नहीं करना चाहती। मेरी जात-बिरादरी में क्या कोई लड़कों की कमी है! एक से एक लड़के हैं! और मेरी इतनी सुन्दर उपमा के लिए तो……”

माँ ने अपने काँपते ओठों को भींच लिया। पर उनके भीतर से तब भी ये शब्द फूटे, “मिस साहब, किसी तरह कोई प्रेम-पत्र उपमा के पास भी भिजवाइये। मैं आपका बड़ा एहसान मानूँगी जी! इसकी इतनी-सी तो इच्छा पूरी हो जाय! फिर आगे ईश्वर चाहेंगे तो……”

उसी समय लॉन से हँसती हुई उपमा दौड़कर आयी। नादान बच्चों की तरह माँ से लिपट कर बोली, “माँ, जरा-सी देर के लिए होस्टल हो आऊँ। आज की डाक आ गयी होगी।”

मिस गुप्ता आज फिर बरामदे के सिरे पर चमेली की लतरों की घनी छाँह के परे उस थोड़े-से भाँकते हुए सूने आकाश को देख रही थीं। उतना-सा आकाश आज तक उसी तरह चुपचाप खड़ा था। हेमन्त बीत गया। बसन्त भी बीत गया। अब तो वैसाख-जेठ आयेगा—

ग्रीष्म ऋतु। तब इस आकाश का क्या होगा? ओह! तब पावस आयेगा और यह नीला आसमान तब टक जायेगा!

उसी समय होस्टल से बहुत खुश, दौड़ती हुई उपमा आयी। उसके हाथ में कोई पत्र न था। माँ से विहँस कर वह बोली, “आज मेरी कोई डाक नहीं है। माँ, चलो अब यहाँ से; ताँगा आ गया!”

उपमा का ताँगा जब वहाँ से चलने को हुआ, तो उसने देखा, होस्टल की सारी सीनियर लड़कियाँ उसके पास आकर खड़ी हो गयी हैं। शेष लड़कियाँ होस्टल के बरामदे और रेलिंग में खड़ी हैं।

उपमा दि ग्रेट ने अपनी उसी मस्ती से हाथ हिलाकर कहा, “बाइ-बाइ!” और क्षण भर में ताँगा कम्पाउण्ड से बाहर चला गया।

बहुत देर बाद मिस गुप्ता बरामदे से उठकर चुपचाप भीतर अपने ड्राइंग रूम में जाने लगीं, तभी होस्टल के चपरासी ने मिस गुप्ता की ढेर-सी डाक उनके हाथ में दे दी।

पर उनका हाथ आज डाक लेते ही इस तरह काँपा कि उनके सारे पत्र वहीं फर्श पर बिखर गये। उन्होंने होस्टल की ओर देखा। उन्हें ऐसा लगा कि रेलिंग पर खड़ी हुई तमाम लड़कियाँ एक साथ हँस रही हैं—ठीक उसी तरह जैसे अकसर उपमा हँसती थी।



राम जानकी रोड

नाम है राम जानकी रोड, पर है सड़क कच्ची। नहीं राम, भूल हो रही है। पूरी रोड कच्ची नहीं है। अयोध्या की सरजू नदी के इस पार बस्ती जिले में राम रेखा नदी से लेकर, जहाँ से यह रोड शुरू होती है, गोरखपुर जिले की भीतरी सरहद तक, यानी कि बँसवारी की कुआनो नदी तक ही यह सड़क कच्ची है।

जिला बस्ती के क्षेत्र तक।

कुआनो नदी के उस पार सिकरीगंज, उरुआ बाजार से आगे यह सड़क पक्की है। चम्पारन। जिला गोरखपुर। आगे है गोला बाजार, फिर वलिया जिला, छपरा डिस्ट्रिक्ट, चम्पारन, मोतिहारी, मिथिला और वह जनकपुर।

जै हो मातु जानकी!

सियावर रामचन्द्र की जै!

इस रोड पर मुसाफिर के पाँव पड़ते ही वह यही जै-जैकार कर उठता है। गायघाट से कलवारी तक डाक लेकर दौड़ता हुआ वह हरिकारा यहाँ तक बताता है कि इस राम-जानकी रोड पर चोर-चण्डाल भी जब पाँव रखते हैं, तो वे भी धीरे से यही बोलते हैं—जै हो मातु

जानकी...और डाकू, चोर पराधा धन लिये हुए कभी भी इस रोड के बीच से नहीं चलते। किनारे से चलते हैं वे।

पर कानपुर की रस्तोगी कम्पनी की जीप इस रोड के बीच से चलती है। ड्राइवर है वही लाल बेनीसिंह—गोरा, सुन्दर राजपूत नौ जवान। खिन्ची हुई रतनारी आँखें। जीप पर उसके बगल में बैठते हैं रस्तोगी कम्पनी के मैनेजर साहब। पीछे कम्पनी के तीन सिपाही। और लाल बेनीसिंह की यह जीप रामजानकी रोड पर बेतहाशा दौड़ती है—हँसर बाजार से लेकर कलवारी तक। रास्ते में इसके स्टेशन हैं—गायघाट, कुदरहा, बाराकोन्ही, सनिचरा और हँसर बाजार। हेडक्वार्टर है कम्पनी का गोरखपुर शहर में—गोलघर, पीली कोठी। कम्पनी के मालिक बाबू यहीं रहते हैं।

हर महीने की पन्द्रह तारीख को लाल बेनीसिंह की जीप पर नोटों से भरी थैलियाँ रखी जाती हैं। बही-खाते और प्रोनोट-दस्तावेज के ऋणजात रखे जाते हैं। मैनेजर साहब कुरते के नीचे कमर में पिस्तौल बाँधते हैं, हाथ में पान-तम्बाकू से भरा हुआ चाँदी का डिब्बा सँभालते हैं। सिपाही लोग मूँछों पर ताव दिये हुए पीछे बैठते हैं। और लाल बेनी इन सबको लादे हुए गोरखपुर से पश्चिम-दक्षिण दिशा में अपनी जीप बढ़ा कर भट उसी रामजानकी रोड की कच्ची सड़क पर उसे मोड़ देता है। जै मातु जानकी....

पहले पड़ता है वही हँसर बाजार। यहीं से कर्ज पर रुपया बाँटने का काज शुरू होता है। सन्ध, बड़ा नाम है उस रस्तोगी कम्पनी का। जीप देखते ही कर्ज लेने वाले दौड़ते हैं। इस तरह कि वह धन मुफ्त में ही सदाव्रत की तरह बँट रहा हो, मुकदमा, ब्याह-शादी, मरनी-करनी घूस-नजर सब इसी कर्ज से। थकाधक प्रोनोट दस्तावेज लिखे जाते हैं। किस्त बँधती है और थैली में से दस-दस, पाँच-पाँच के नोट गिने जाते हैं। दना-दन अँगूठे लगते हैं। नंग-धड़ंग बच्चे-बूढ़े, सूखी हुई जवान औरतें अपने बच्चों को नंगी छाती से छिपकाये हुए, सब दूर खड़े बस

वही रूपों का गिनना देखते हैं चुपचाप—मन्त्र सुग्ध ।

इस तरह हैंसर बाजार से कलवारी तक जाते-जाते लाल बेनीसिंह की जीप को आठ दिन लग जाते हैं । और ठीक दसवें दिन कलवारी से वही जीप फिर हैंसर बाजार की ओर बढ़ती है—इस बार पिछले महीने के कर्जदारों से किस्त के नकद रुपये बसूलती हुई ।

और महीने के अन्त में वह जीप नोटों से भरी हुई दुगुनी थैलियाँ लादे फिर उसी गोरखपुर मालिक बाबू की कोठी पर पहुँच जाती है ।

वह गोरखपुर !

वही पीली कोठी ।

यहाँ पहुँच कर वह लाल बेनीसिंह सिहर उठता है । बहुत जोर से कुछ काँपने लगता है उसके भीतर । कारण है वही जनक-नन्दिनी—मालिक बाबू की बड़ी लड़की, जो यहाँ कालेज में बी. ए. में पढ़ती थी ।

तब लाल बेनीसिंह मालिक बाबू का ही निजी ड्राइवर था । ठीक दस बजे जनकनन्दिनी को नयी स्टूडीबेकर पर बैठाये हुए वह उसे कालेज पहुँचाता था, और तीन बजे उसे कालेज से घर लाता था ।

इसी लाल बेनी ने ही एक दिन जनकनन्दिनी को उस राम-जानकी रोड की कथा बताया थी—मालिक बाबू के “विजनेस” की ओर उस रोड की कथा कि जिस पर अयोध्या से जनकपुर रामचन्द्र जी की बारात गयी थी; कि जिस पर जानकी और राम का रथ चला था । दुल्हन जानकी, दूल्हा राम । पीछे-पीछे वही तीनों भइया—लक्ष्मण, भरत और शुभ्र अपनी-अपनी प्रिया के संग । और पीछे वही अवध की बारात । मिथिला जाती हुई और मिथिला से अवधपुरी लौटती हुई ।

कितनी पवित्र है वह रोड ! कितनी पावन !

और एक दिन वह जनक-नन्दिनी उसी लाल बेनीसिंह के संग वही रामजानकी रोड देखने के लिए पागल हो उठी ।

“ठाकुर, तुम मुझे समझाओ नहीं । समझ लो, मैं दीवानी हो गयी हूँ ।”

“पर....”

“पर कुछ नहीं ! बस, मुझे यहाँ से ले चलो अपने संग उसी भूमि पर ।”

“लेकिन....”

“लेकिन कुछ नहीं । बस, चलो, ठाकुर !”

और वह ठाकुर उस जनकनन्दिनी को उसी स्टूडीबेकर में अपने संग बैठाये इसी रामजानकी रोड पर ले आया था । कालेज जाने के समय ठीक दस बजे वे दोनों गोरखपुर से चले थे और बारह बजते-बजते सामने वही रामजानकी रोड । मात्र का महीना । सड़क के दोनों ओर गेहूँ, मटर, अरहर, ऊख के लहलहाते खेत । सरसों और अलसो के फूलों से भरी हुई वह धरती । जनकनन्दिनी सड़क की धूल को अपने माथे लगाती और जगह-जगह कार-रोककर उन फूल भरे खेतों में सो-सो जाती । अपूर्व निद्रा । शस्य श्यामला स्नान । गेहूँ-मटर की हरीतिमा में बैठ कर जैसे अपने प्राणों को स्पर्श करने लगती और नंगे पैरों उसी रोड की धूल में दौड़ती । नीले अन्तरिक्ष में न जाने क्या निहारती ! रोड के किनारे-किनारे गाँवों-वस्तियों में अनायास चली जाती । गरीब दुर्भिन्न पीड़ित लोग, गन्दे घर, नंग-धड़ंग बच्चे । फूल-सी कुम्हलाई हुई वे औरतें । अभाव-अन्धकार में पलते हुए वे लोग । जनकनन्दिनी ने वह सब इतना पहली ही बार देखा था ।

सो वह जनकनन्दिनी ठाकुर के संग-संग रामजानकी रोड देख कर करीब आधी रात की बेला में गोरखपुर लौटी थी ।

कोठी में बड़ा तहलका मचा था । किसी ने वहाँ यह अफवाह उड़ा दी थी कि लाल बेनीसिंह कार सहित जनकनन्दिनी को लेकर भाग गया ।

उन दोनों को कोठी के सामने देखते ही मालिक ने लाल बेनी के

ऊपर अपनी भरी बन्दूक तान ली थी। पर उस ठाकुर के सामने तड़क-कर आ खड़ी हुई वही जनकनन्दिनी। कितनी बड़ी घटना थी वह! मालिक बाबू क्या, इस कोठी में किसी ने भी इसकी कल्पना तक न की थी। बहुत बड़ी घटना थी वह। दोनों के लिए बड़ी। बहुत बड़ी... इसलिए भी नहीं कि तब जनकनन्दिनी की पढ़ाई बन्द कर दी गयी, इसलिए भी नहीं कि तब से लाल बेनीसिंह को वह स्टूडीबेकर छूने तक नहीं दी गयी और उसे फिर तब से रामजानकी रोड पर वही केवल जीप चलानी पड़ी, इसलिए भी नहीं कि अब उसे कोठी के भीतर पाँव रखने तक का हुकुम नहीं, बल्कि इसलिए कि तब से उसे एक अजब पुकार सुनायी पड़ती है—हर क्षण की वह पुकार जो उस कोठी में एकाएक बन्द कर दी गयी! पर वह अनाहद पुकार उसे हर क्षण जगाये रखती है। हिरणी की तरह वे आँखें उसके सामने सदा खिंची रहती हैं। एक अजब सुगन्धित, एक गजब की कोमलता, जिसकी अनुभूति अभी तक उस लाल बेनी को नहीं थी! उस अबोध को, जैसे कोई फूलों का बाण बेध गया हो—आर-पार! एक आश्चर्य-जनक दर्द जिसे अपने मन में संजोये हुए वह अपने माथे से उसे छू लेना चाहता हो! एक अद्भुत रहस्य जिस पर वह अपने आपको न्योछावर करना चाहता हो!

कम्पनी के स्टाफ के लोग तब से मालिक बाबू से कहते हैं कि इस बेईमान पाजी लाल बेनीसिंह को कम्पनी से निकाल दिया जाये। पर मालिक को लाल बेनीसिंह के चरित्र की एक और भी बात नहीं भूलती—विश्वास और वफादारी की बात!

तब लाल बेनीसिंह नया-नया ही कम्पनी में ड्राइवर हुआ था—मालिक का निजी ड्राइवर। कानपुर की बात है वह—असली घर की बात। मालिक बाबू की वह कोई यार-दोस्त थी। उन्हीं को संग लिये हुए वह एक जगह गये थे। बहुत पी ली थी दोनों ने। एकदम बेहोश। स्त्री के शरीर भर में वेशकीमती जेवरात। मालिक बाबू के

पास धन—पर्स में भी और कार में भी। लाल बेनीसिंह ने एक-एक को उठा कर कार में रखा और जैसे ही वह कार बढ़ाने को हुआ, सामने चार बदमाश। लाल बेनीसिंह अकेले उनसे निहत्थे लड़ा था। दोनों हाथ उसके लोह-खुहान, पर वह मालिक को वहाँ से सुरक्षित ले आया था। सब कुछ सुरक्षित। और आज तक उस घटना को कोई नहीं जान सका था।

पर इसे वह जनकनन्दिनी जानती थी। हाथों में घाव के निशान देखकर एक दिन कालेज जाते समय उसी जनकनन्दिनी ने ही पूछा था, “ठाकुर, तुम्हारे इन हाथों में घाव के ये निशान कैसे हैं?”

“ये निशान....” ठाकुर ने उसे सब बता दिया था।

और भी सब ठाकुर के विषय में वह जनकनन्दिनी जानती है—उसकी हाई स्कूल तक की पढ़ाई, उसका गाँव, उसकी विधवा माँ, उसका निश्चल व्यक्तित्व, उसकी हर एक साँस।

और एक दिन लाल बेनीसिंह धवरा गया।

रात का समय था। वह कोठी की दायीं ओर गैरेज के बाहर चार-पाई विछाये सो रहा था। रामजानकी रोड की पन्द्रह दिन की यात्रा करके वह उसी दिन लौटा था। आसमान में खूब घने बादल छाये थे। गैरेज के ऊपर कटहल का घना वृक्ष झुका था। उसके फूलों की सुवास चारों ओर बरस रही थी।

लाल बेनीसिंह वह आवाज सुनते ही हड़बड़ा कर उठ गया। सामने जो देखता है, तो उसे विश्वास नहीं होता—वही जनकनन्दिनी आयी खड़ी है। वही मुग्धा सुन्दरी, दीवानी जनकनन्दिनी।

“ठाकुर, उठो, मुझे लेकर भाग चलो कहीं!”

“पर कैसे?”

“मैं बताती हूँ न....”

“नहीं....नहीं, ऐसा नहीं करते। सोचो तो....”

“ठाकुर, तुम्हारे इन हाथों की कसम, मैं तुम्हारे बिना नहीं रह

सकती ।”

“नहीं....नहीं, तुम्हें बहुत कष्ट होगा ।”

“नहीं, मुझे बहुत-बहुत सुख होगा, ठाकुर ! तुम नहीं जानते कि....”

जनकनन्दिनी हहाकर रो पड़ी । निःशब्द रोती रही । ठाकुर थर-थर काँपता रहा, जैसे कटहल के पात हवा में काँप रहे हों । उसके दोनों हाथ जनकनन्दिनी ने अपने हाथों में बाँध कर अपने सीने में गड़ा लिये थे । अंक के समुद्र में दोनों हाथ, जिन पर उसके नयन-नक्षत्रों की अनवरत वर्षा हो रही थी । उन नक्षत्रों के बीच बिजली तड़प-तड़प कर प्रकाश बिखेर रही थी । पर जो उस आकाश में गरज रहा था, उससे केवल ठाकुर का ही आकाश काँपता था । जनकनन्दिनी तो जैसे धरती थी—शान्त, शीला, रसमयी, समर्पिता....

“तुम मुझे अपना प्यार नहीं दोगे ठाकुर ?”

ठाकुर रोने लगा । वही उत्तर था उसका ।

फिर वह भरे कण्ठ से बोला, “तुम मुझे शक्ति दो नन्दिनी !”

“दूँगी, सब कुछ दूँगी, ठाकुर ! बस, तुम धवराना नहीं ।”

बस, यह कह कर जनकनन्दिनी वहाँ से विजयी, परितुष्ट अभिसारिका की तरह माथा उठाये चली गयी । ठाकुर बस देखता ही रहा, जैसे कोई साक्षात् स्वप्न के भीतर देखता है और नाक में उसकी सुगन्ध भर जाती है । कान में उसका संगीत सुनाई देने लगता है । कण्ठ में उसकी अमृत-वर्षा होने लगती है ।

अगले ही दिन कोठी के भीतर एक कोहराम मच गया । जनकनन्दिनी ने माँ-बाप के सामने मुँह खोल कर कह दिया कि वह ठाकुर के संग ब्याह करेगी ।

उस ठाकुर के संग ! मालिक की बेटी का ब्याह ?

उस द्राष्ट्र के संग ! जनकनन्दिनी का ब्याह ?

हाँ, ब्याह ! सप्तपदी ! स्वयंवर....!

दो दिनों तक मालिक बाबू अपने कमरे से बाहर नहीं निकले । कम्पनी का हिसाब-किताब बन्द । माँ का बस रोते रहना । और वह जनकनन्दिनी अपना माथा उठाये आश्वस्त बैठी रही—अडिग, निष्कम्प ।

बाहर वह लाल बेनीसिंह तब से अपनी साँस बाँधे अविचल बैठा है । और सब कुछ उस कोठी के आकाश में खिंचने लगा है, जैसे कोई इन्द्र धनुष खिंचे, जिसे न कोई बादल टँक सके, न जिसे कोई हवा उड़ाये, जैसे कोई वह शंकर-पिनाक हो । जनकनन्दिनी का व्रत, संकल्प और धर्म, जिसे उठाने वाला केवल वही ठाकुर । केवल वही लाल बेनीसिंह ।

अब क्या होगा ?

जनकनन्दिनी का ब्याह....

नहीं....नहीं !

हाँ !

अच्छा....!

तीसरे दिन वह लाल बेनीसिंह उस कोठी के भीतर बुलाया गया । एक ओर मालिक बाबू, दूसरी ओर उनकी पत्नी । सामने वही जनकनन्दिनी । सिर उठाये । शान्त । अविचल !

“लाल बेनीसिंह !”

“हाँ मालिक !”

ठाकुर ने सहसा अपना माथा ऊपर उठाया । जनकनन्दिनी की नयन-डोर में उसकी आँखों के सारे पुष्प उसी क्षण ही गुँथ गये ! अद्भुत पुष्पहार, जिसका एक छोर माना ठाकुर के गले में है, दूसरा जनकनन्दिनी के । और लाल बेनीसिंह का माथा चमक गया ।

“सुनो, ठाकुर !”

“जी !”

“तुम मेरी इस बेटी के साथ ब्याह करोगे ?”

६

“जी हाँ।”

और वहाँ का सारा आकाश निस्तब्ध रह गया। उस आकाश में कब से खिंचा हुआ वह इन्द्र धनुष, वह शंकर-पिनाक जैसे पुष्प बन उठा और उस पुष्प वत शंकर-पिनाक को अपने उन हाथों में उठाये हुए वह अपलक मालिक बाबू की आँखों में देखने लगा।

उतनी आँखें ! उतनी दृष्टि ! और सब कुछ वहाँ चुपचाप। मौन खिंचा हुआ।

सहसा मालिक की आवाज फूटी, “ठीक है, ब्याह होगा ! होगा ब्याह....” और एक दिन वह ब्याह हो गया।

तब मालिक बाबू ने एक नयी ‘फार्वर्डिंग एजेन्सी’ खोली। नाम रखा, ‘ठाकुर फार्वर्डिंग एजेन्सी’। इसके आगे ठाकुर लाल बेनीसिंह को और कुछ नहीं मालूम। इसके लिए दो नयी ट्रकें खरीदी गयीं। बिल्कुल नये रास्ते और नयी सड़कें ढूँढ़ी गयीं।

रामजानकी रोड से नेपाल के बॉर्डर तक—बुटवल, तौलिहवा, गोवरहवा बाजार।

और नेपाल बॉर्डर से यहाँ इस कच्ची सड़क रामजानकी रोड से होते हुए आगे अकबरपुर-फैजाबाद....

“ठाकुर फार्वर्डिंग एजेन्सी।”

दामाद और लड़की के रहने के लिए मालिक बाबू ने गोरखपुर के अलीनगर मुहल्ले में एक छोटा-सा सुन्दर मकान ले दिया। नयी एजेन्सी का काम ठाकुर को समझा दिया—नेपाल बॉर्डर से सामान इधर लाने और इधर से उधर पहुँचाने का काम। इसके लिए रस्तोगी फर्म से पाँच सौ रुपये महीने की तनखाह दामाद के लिए तय कर दी। दो नये ड्राइवर भी तय कर दिये गये उन ट्रकों को चलाने के लिए। फार्वर्डिंग एजेन्सी का ‘रूट’ भी निश्चित हो गया। बुटवल से डुइहिया घाट, तौलिहवा, गोवरहवा बाजार, नौगढ़, बूढ़ी राप्ती, राप्ती, बाँसी,

रुधौली, मेहदावल, बखिरा से होते हुए खलीलाबाद, फिर वही राम-जानकी रोड।

और सारी जिम्मेदारी ठाकुर लाल बेनीसिंह की। लेन-देन, फायदा-नुकसान, हिसाब-किताब सब रस्तोगी कम्पनी का काम और सारा नाम उसी लाल बेनीसिंह का।

और उस ठाकुर फार्वर्डिंग एजेन्सी का काम शुरू।

चार महीने वर्षा के चिताकर पन्द्रह सितम्बर से ट्रकों का रूट पर आना-जाना प्रारम्भ हो गया। महीने में एक बार ठाकुर लाल बेनीसिंह को बतौर मालिक, ड्राइवर के बगल में बैठ कर रामजानकी रोड से बुटवल तक जाना पड़ता था और फिर एक ही बार भरे सामान के साथ लौटना पड़ता था।

एक दिन जनकनन्दिनी ने पति से पूछा, “तुम्हारी फार्वर्डिंग एजेन्सी के ट्रकों पर किसका सामान इधर से उधर आता-जाता रहता है ?”

“कुछ तो कम्पनी का ही माल रहता है और बाकी अन्य व्यापारियों का सामान।”

“कम्पनी का क्या माल आता है इधर से ?”

“यही चावल वगैरह।”

“और इधर से उधर कम्पनी का क्या माल जाता है ?”

ठाकुर ने बताया, “चीनी, मिट्टी का तेल, तम्बाकू, कपड़ा, दाल और पेट्रोल !”

जनकनन्दिनी ने और जानना चाहा, “और व्यापारियों का क्या-क्या माल इधर से जाता है ?”

“कम्पनी के अलावा इधर से और किसी का भी कोई सामान उधर नहीं जाता। ट्रक खाली ही नहीं रहती।”

“और व्यापारियों का उधर से इधर क्या-क्या माल आता है ?”

ठाकुर ने इसका भी उत्तर दिया, “चावल, खुली चाय, अदरक,

सोंठ, कच्चे फल, चीड़-सागौन के तख्ते और बीड़ी बनाने के पत्ते, तेज-पात, इलाइची, जावित्री वगैरह।”

“इतने-इतने सामान ! इतना माल !”

जनकनन्दिनी आश्चर्यचकित रह गयी। फिर पूछा उसने, “वहाँ से यहाँ इतनी दूर इतना-इतना माल ले आने और ले जाने का सरकारी हुक्म है क्या ?”

“कुछ है, कुछ नहीं भी है।”

“मतलब ?”

“ऐसा है कि सरकार से कम्पनी के पास अपनी फारवर्डिङ्ग एजेन्सी का परमिट और लाइसेंस तो है ही।”

“यह परमिट और लाइसेंस किसके पास है ?”

“मेरे पास है।”

ठाकुर ने पत्नी को दिखा दिया।

पर जनकनन्दिनी अब भी सन्तुष्ट न हुई।

“इसे बनवाया किसने ?”

“अरे वही कम्पनी ने...मालिक बाबू ने। काफी रुपये खर्च हुए हैं, तब मिला है कहीं !”

“और जिन सामानों के ले आने, ले जाने का परमिट और लाइसेंस नहीं है, उसके लिए....”

“उसके लिए घूस-नजराना बँधा है।”

“किसे ?”

“नेपाल बॉर्डर से लेकर रामजानकी रोड तक।”

“कौन लोग हैं वे ?”

ठाकुर गिनाने लगा, “पुलिस के लोग, ट्रैफिक सिपाही, इक्साइज इन्सपेक्टर, उनका स्टाफ, नदी के पुल के चौकीदार, चुंगी वाले, तहसील के हाकिम....”

जनकनन्दिनी इतनी बड़ी कैफियत सुन कर घबरा गयी। उसने

अपने पति से एक दूसरा सवाल किया, “इतना सारा घूस-नजराना कौन देता है ?”

“वही रस्तोगी कम्पनी।”

“और इससे कम्पनी को लाभ कितना होता है ?”

“यह तो पता नहीं।”

जनकनन्दिनी चुप हो गयी। गम्भीर। एकटक वह बहुत देर तक अपने ठाकुर का मुँह निहारती रही।

“अरे, इस तरह तुम मेरा मुँह क्या देख रही हो ?”

“सुनो, ठाकुर, यह काम बुरा है।”

“बुरा है, तो कम्पनी के लिए। मैं तो गाढ़ी कमाई करता हूँ और उसके बदले अपनी तनखाह पाता हूँ।”

“वह तो ठीक है। जिस दिन यह घूस-नजराना कहीं फेल हो गया तो ?”

ठाकुर ने हँस कर उत्तर दिया, “अरे, कहीं घूस-नजराना भी फेल होता है ! और इसका कोई हद्द-हिसाब है क्या ? एक जगह घूस-नजराना फेल भी हो गया, तो हो जाने दो, ऊपर और जगहें तो हैं। अरे, यह तो कम्पनी का रोज का धन्धा है। इसमें जरा भी कोई डर नहीं।”

अपने पति का वह उत्साह देख कर जनकनन्दिनी उसका हाथ पकड़ कर रोने लगी, “कम्पनी को डर न सही, तुम्हें तो डर है !”

“अरे, मुझे क्या डर !”

“मुझे तो डर लगता है, ठाकुर।”

ठाकुर हँसने लगा। जनकनन्दिनी उतनी ही और रोती रही। उसके वे आँसू तब थमे, जब उसने अपने पति से यह सौमन्ध मनवा ली, “जिस ट्रक पर बिना लाइसेन्स और बिना परमिट का सामान लदा हो, उस पर तुम यात्रा नहीं करोगे !”

“ठीक है, नहीं करूँगा !”

ठाकुर तब से महीने में एक बार अपनी यात्रा में उसी ट्रक के संग आता-जाता है जिसमें बिना परमिट और बिना लाइसेन्स का कोई विशेष सामान न लदा हो।

पर वह जनकनन्दिनी अब भी और न जाने क्या चाहती है ! एक दिन उसका पति जब यात्रा से घर लौटा, तो वह उसका हाथ उसी तरह अपने अंक में गड़ाये, भरे कण्ठ से बोली, “यहाँ से कहीं और चलो, ठाकुर। कहीं बहुत दूर। या अपने उसी गाँव में ही माँ के पास, ताकि मुझे लगे कि मैं तुम्हारे संग अपनी ससुराल में हूँ। मैं यहाँ अपने नैहर में नहीं रहना चाहती। मुझे यहाँ डर लगता है, ठाकुर।”

“कैसा डर ?”

“पता नहीं, कैसा ! पर बहुत डर लगता है मुझे।”

“अब तो कोई ऐसी डर की बात ही नहीं है !”

“मुझे कम्पनी की तुम्हारी इस तनखाह से डर लगता है।”

“कैसा डर ?”

“अपने उसी पिता से !”

ठाकुर फिर हँसने लगा और जनकनन्दिनी फिर उसी तरह रोने लगी। बच्चों की तरह रुदन। ठाकुर उसे समझाने लगा।

जनकनन्दिनी बोली, “ठाकुर, मुझे सिर्फ तुम्हारा प्यार चाहिये। न यह सुख, न यह सुविधा। मुझे इस कम्पनी से डर लगता है। तभी अपने ब्याह के पहले मैंने तुमसे कहा था कि तुम मुझे लेकर कहीं भाग चलो।”

ठाकुर हँस कर बोला, “अरे, मालिक बाबू के घर से तुम्हें भगाकर ही तो मैं यहाँ ले आया हूँ !”

“कहाँ ? नहीं....। हम भाग कहाँ सके हैं ! हम तो और भी जकड़ लिये गये हैं। तुम तो उसी कम्पनी के नौकर ही रहे न !”

“तो क्या हुआ ?”

“हुआ क्यों नहीं, ठाकुर। तुम तो कुछ समझते ही नहीं !”

जनकनन्दिनी फफक कर रो पड़ी। बड़ी देर तक रोती रही। सार मुख आँसुओं से तर। उसकी बड़ी-बड़ी निर्मल आँखों से वह आँसुओं की धारा जैसे टूटती ही न थी। वह उसी अश्रु-मुख से बोली, “तुम मुझे न मिले होते, तो मेरी शादी उसी तरह हुई होती। उसी रस्तोगी वंश का वह कोई मेरा पति होता, जो इसी तरह की किसी और कम्पनी का मालिक होता या मालिक का पुत्र होता। मैं उसकी किसी एक बड़ी हवेली में बन्द रहती और उसके बच्चों की माँ बनती रहती। आगे चल कर मेरे वे बेटे भी इसी तरह की अपनी-अपनी कम्पनियाँ खोलते और मेरी बेटियाँ भी फिर इसी तरह के रस्तोगी घरों में ब्याही जातीं। ठाकुर, इसमें रस्तोगियों का कोई कसूर नहीं। रस्तोगी तो महज एक उदाहरण मात्र है, एक कल्पना है, सारा कसूर तो ऐसी कम्पनियों के इस ढाँचे का है। मैं नहीं चाहती कि इस ढाँचे में मेरे ठाकुर का भी हाथ हो। मेरे ठाकुर....”

ठाकुर चुपचाप जनकनन्दिनी की बात सुनता रहा।

“सुनो, ठाकुर, जब तुम मेरे पास से उतने दिनों के ही लिए एजेन्सी के उस दौरे पर जाते हो न, तो मैं अकेली रात को अकसर एक स्वप्न देखती हूँ—अजीब-सा स्वप्न....कि तुम कोई काला वस्त्र पहने दौड़ रहे हो और कोई तुम्हारा पीछा कर रहा है। उसके हाथ में एक काली तलवार है। तलवार से ताजा खून टपक रहा है और उस खून के छींटे तुम्हारे माथे पर पड़ रहे हैं....”

कहते-कहते जनकनन्दिनी ठाकुर के अंक में अपना मुँह गड़ा कर चुप हो गयी।

ठाकुर ने उसे समझाना चाहा। उसे सान्त्वना दी, “सुनो....सुनो, अच्छा सुनो तो, इस महीने फारवर्डिङ्ग एजेन्सी के अपने दौरे पर मैं नहीं जाऊँगा। कम्पनी में कल ही कह दूँगा।”

“नहीं, ठाकुर, तुम इस नौकरी को छोड़ ही दो। कल ही अपना इस्तीफा भेज दो। मैंने यह सब सोच कर तुमसे ब्याह नहीं किया था

कि मैं वही मालकिन बन के टाट से इस तरह के घर में बैठूंगी और तुम....”

ठाकुर बोला, “सच, मुझे कोई तकलीफ नहीं है। मैं तो तुम्हें पाकर जैसे स्वर्ग में हूँ, नन्दिनी !”

“पर उस स्वर्ग का ब्याज भी तो तुम्हीं को भरना पड़ रहा है, ठाकुर।”

“कैसा ब्याज ?”

“मेरा....सोचती हूँ, ठाकुर कि मेरा प्रेम कितना अच्छा व्यापार सिद्ध हुआ मेरे लिए ! एक हाथ में मूलधन, दूसरे में ब्याज ! वाह रे मैं ! वही रस्तोगी कम्पनी यहाँ भी।”

ठाकुर ने उदास होकर पूछा—“फिर क्या करूँ मैं तुम्हारे लिए, वोलो ?”

“यह काम छोड़ कर यहाँ से कहीं दूर चलो....!”

“मालिक बाबू का कितना बड़ा अहसान है मुझ पर ! वह क्या सोचेंगे ?”

“कैसा अहसान ?”

“तुमको मुझे दिया है।”

जनकनन्दिनी सहसा जाग गयी। उसके गोरे मुख पर जैसे किसी ने सिन्दूर पोत दिया हो। वह तड़प कर बोली, “मैं तुम्हारे हाथ में अपने उस पिता का दान नहीं हूँ। मैं आत्मसमर्पण हूँ। प्रिया हूँ तुम्हारी। स्वयम्बरा हूँ !”

पूस का महीना था वह। उस महीने ठाकुर लाल बेनीसिंह अपने उस फारवर्डिङ्ग के काम पर नहीं गया। वस, जनकनन्दिनी के साथ।

पर वह पूस का महीना बीत भी नहीं पाया था कि एक दिन ठीक दोपहर के समय एक्साइज और पुलिस, दोनों की जीपें ठाकुर के दरवाजे पर हरहरा कर आ रुकीं। रामजानकी रोड पर ‘ठाकुर फारवर्डिङ्ग

एजेन्सी’ की ट्रक पकड़ी गयी थी। उसमें ऊपर-ऊपर तो चावल के बोरे लदे थे, नीचे फर्श पर करीब पाँच मन गाँजा और चरस मिला था; उसी तरह चावल की बोरियों में बन्द।

ठाकुर फारवर्डिङ्ग एजेन्सी !

नाम उसी ठाकुर लाल बेनीसिंह का !

पुलिस ने ठाकुर को गिरफ्तार कर लिया।

दोनों जीपें घर के दरवाजे से जनकनन्दिनी के पति को बन्दी बना कर ले गयीं।

जनकनन्दिनी की आँखों में एक भी आँसू नहीं। जरा भी प्रतिवाद नहीं। फरियाद नहीं। रस्तोगी कम्पनी के मालिक बाबू, जनकनन्दिनी के वही पिता, बेटी को समझाते हुए बोले, “घबराती क्यों हो, बेटी, इसमें कौन-सी बड़ी बात है ! अभी मैं तुरन्त ठाकुर को जमानत पर छोड़ा कर ले आता हूँ। अभी इसी वक्त !”

“और ?” जनकनन्दिनी ने बड़े ही ठण्डे स्वर में अपने पिता से पूछा।

पिता ने उत्तर दिया, “और क्या ? अरे, ज्यादा-से-ज्यादा दो-चार महीने ठाकुर पर मुकदमा चलेगा। इसके लिए कम्पनी की तरफ से अच्छे-से-अच्छे वकील-एडवोकेट लगे हुए हैं। कम्पनी के मैनेजर हैं। वे लोग सरकार से मुकदमा लड़ लेंगे। इसका सारा खर्चा कम्पनी देगी। वस, इसमें किस बात की चिन्ता !”

“और ?”

“मुकदमे में हमारी ही जीत होगी।”

“और ?”

“ठाकुर फिर उसी तरह अपनी ‘फारवर्डिङ्ग एजेन्सी’ का काम करेगा।”

“और ?” जनकनन्दिनी ने अन्त में जैसे विक्षिप्त स्वरों में पूछा। फिर उस दृष्टि से उसने अपने पिता को देखा कि जैसे म्यान से अचा-

नक कोई तलवार खिंच कर कौंध जाय ।

उस अन्तिम 'और' का कोई उत्तर नहीं । वह पिता, वह रस्तोगी कम्पनी के मालिक बाबू, वह इनसान, इन तीनों को एक के ऊपर एक रख कर जैसे उस 'और' की तलवार ने उस पूरे ढेर को एक ही धार में आर-पार कर दिया हो ।

जनकनन्दिनी को अकेले जो स्वप्न पिछले बहुत दिनों से अकसर पीछा कर रहा था—वह तलवार का दुःस्वप्न, जिसमें से टपकते हुए खून के छींटे उसके बेतहाशा भागते हुए पति के माथे पर पड़ रहे थे, उसने आज उसे प्रत्यक्ष देख लिया कि वह तलवार यही है । यही है वह । यही है वह 'और'....

जनकनन्दिनी ने बढ़कर हवा में तनी हुई वह तलवार अपनी दोनों मुट्ठियों में भींच ली । वह तलवार आज उसकी मुट्ठी में ! फिर वह निहारने लगी । निहारती रही । निहारती रही । और उसकी धार पर नन्दिनी की अश्रुधारा बहती रही । 'और'.... 'और'....



एक बूँद जल

उसी आदमी को आज मैंने फिर देखा । पिता जी गंगा में स्नान करके घाट की सीढ़ी पर सूर्य भगवान की पूजा कर रहे थे । मैं गंगा के पानी में डुबकियाँ लगा-लगाकर नहा रही थी । और वही आदमी दायीं ओर सीढ़ियों पर बैठा हुआ एकटक मुझे देख रहा था । बेशर्म, निर्लज्ज ! पर मुझे भी न जाने क्या हो गया था—मैं उसे बीच-बीच में ताक लेती थी, जैसे वह सब मुझे अच्छा लगता ।

बनारस का घाट । जुलाई का महीना । गंगा में बहुत पानी भर आया था । पर वह आदमी गंगा में नहाने नहीं आया था—सिर्फ मुझे घूरने आया था । मैं इस इन्तजार में थी कि वह सीढ़ियों से उठे तो मैं पानी से बाहर आऊँ । मैं इस तरह भीगे कपड़ों में उसके सामने नहीं जाना चाहती थी । पर वह तो अपनी जगह से उठने का नाम ही नहीं लेता था । कुशल यह कि मैं अपने पूरे वस्त्रों में नहा रही थी ।

पिता जी पूजा खत्म करके सूर्य भगवान को नमस्कार करने लगे तो मैं एक साँस में पानी से बाहर आ गयी ।

घर पहुँच कर मन हुआ कि उस आदमी के बारे में पिता जी से कह दूँ पर हिम्मत न हुई । पिता जी उलटे मुझे ही डाँटेंगे और सारा

दोष मेरे ही माथे मढ़ देंगे।

तब मैं इण्टर में पढ़ती थी ! अब से चार साल पहले की बात है—कालेज के एक लड़के ने मेरे साथ बदतमीजी की। मेरे रिक्रेशे से उसने अपनी साइकिल लड़ा दी। फिर वह अनायास मुझ से उलझने लगा। मेरी एक किताब छीनकर भागा। दूसरे दिन जब उसने मेरी किताब वापस की तो मैंने देखा, उसने जगह-जगह किताब भर में सारा कुछ उलटा-सीधा लिख मारा था। पिता जी से मैंने शिकायत की। पिताजी ने उलटे मुझे बेंत से मारा। मैं चुप रह गयी। मैंने पिताजी से आगे कुछ भी नहीं कहा और कहती भी क्या, पिता जी ने आगे कुछ पूछा भी नहीं। काश, मेरी माँ जीवित होती ! तो उस समय मेरे भीतर उस अकेलेपन का जन्म न मिलने पाता। पर उसने जन्म ले लिया और आज वह वृद्ध बन गया है मेरे भीतर। हरा-भरा वृद्ध नहीं, एक ठूँठा वृद्ध जिस पर कभी-कभी सिर्फ एक शिकारी पंछी आ बैठता है—बहुत बड़ा, डरावना पंछी पर उससे भी अधिक मन्त्रमुग्ध करने वाला—काले-काले डेने, जलती हुई रतनार आँखें, मजबूत पंजे।

मैं इस पंछी के बारे में भी पिता जी से कहना चाहती थी पर कह नहीं पाती थी। कोई अबसर ही नहीं मिलता था। कभी कोई इस तरह की बात ही नहीं उठती थी। महीनों बीत जाते थे, पिताजी से कभी कुछ बात ही नहीं होती थी।

मैंने अपने आप इण्टर करने के बाद पढ़ाई छोड़ दी। पिताजी से एक शब्द भी नहीं कहा। कुछ प्रश्न भी नहीं किया। यहाँ तक कि जरासा नाराज भी नहीं हुए।

दो वर्ष बाद फिर बी. ए. में नाम लिखाना चाहा तो पिता जी ने चुपचाप खुशी-खुशी यूनिवर्सिटी में मेरा नाम लिखा दिया। तब भी पिताजी ने कुछ सवाल-जवाब नहीं किया। घर में किसी सुख-सुविधा की कमी नहीं। पिता जी वाटर वर्क्स के चीफ इंजीनियर और मैं उनकी इकलौती सन्तान। सिर्फ तीन व्यक्तियों का परिवार—मैं—सरला

माथुर, साठ वर्षीया मेरी बहरी बुआ जी और मेरे पापा श्री रासबिहारी माथुर।

इन तीन व्यक्तियों के घर पर दो नौकर—एक महाराजिन, एक माली। पर मैं निरी अकेली थी। मुझे मेरी सखियाँ, सहपाठिनें तक प्रिय न थीं। सभी कहती थीं—सरला को बहुत धमण्ड है—रूप का, यौवन का, बड़े बाप का। ये बात मुझे और भी अकेली कर देती थीं।

मैं अपने कमरे में बन्द सिर्फ सोयी पड़ी रहती थी। घर में न जाने कब पिता जी आते, मैं उनकी आवाज तक नहीं सुन पाती थी।

फिर वही ठूँठा वृद्ध हवा में डोलने लगता था। एक अजब-सा आँधरा उस पेड़ पर से बरसने लगता। वह लम्बे पंखों वाली शिकारी चिड़िया कुछ बोलने लगती। और मैं मन्त्रमुग्ध हो जाती। काश, कोई मुझे मार डालता या मैं खुद ही मर जाती !

जैसे कि मेरी माँ मरी थी।

जैसे कि मेरी माँ के बाद वाली मेरी माँ मरी थी।

“नहीं....नहीं, आई लव यू !”

“कौन हो तुम ?”

“एक आदमी....माई डियर....माई डार्लिंग !”

मैं उस अज्ञाने आदमी के हाथ का वह स्पर्श अपनी दायी बाँह पर लिये रह गयी। दशहरे का मेला था ! बनारस की सड़कों पर बड़ी भीड़ थी। उस आदमी ने मेरी बाँह पकड़कर कहा था, “मुझे आप से प्रेम है।” उससे यह मेरी पहली मुलाकात थी। फिर वह लजाकर मेरे सामने से हट गया था। सिर्फ इतना बोला, “मैं आपके ही मुहल्ले में रहता हूँ। जब से मैंने आपको देखा है—अपने कमरे की खिड़की पर आप अकेली चुपचाप खड़ी रहती हैं, तब से मैं सदा आपके साथ हूँ। मैं कभी आपको नहीं भूलता।”

मैंने एकटक उस अनजाने आदमी के मुख पर देखा। सचमुच उसकी आँखें कुछ नम हो आयी थीं—कुछ शीतल-सा भाव। मैं

उसी में बंधी रह गयी और वह आदमी मानो लजाकर मेरे सामने से अदृश्य हो गया।

मैं उस दिन अपने कमरे में आकर बहुत रोयी ; बहुत रोयी। यह क्या हो रहा है मुझे ? यह कैसा मोहक, कुरूप, अन्धा कुआँ है जिसमें मैं फँक रही हूँ ? यह मैं जैसे खुद नहीं कर रही थी, कोई मुझसे बरबस करा रहा था। उस रात मैं एक क्षण के लिए भी नहीं सो पायी। मुझे लगता था, वह आदमी काली पैरेंट और गुण्डाकट "टी शर्ट" पहने हुए मेरे कमरे में खड़ा है। उसका गोरा, स्वस्थ तन, उसकी जवानी, उसकी जलती हुई बड़ी-बड़ी आँखें मेरी ओर फैल रही हैं। उसके ओठों की जलती हुई सिगरेट, उससे उमड़ता हुआ धुआँ मेरे कमरे में भर रहा है और मैं मन्त्रमुग्ध हिरनी की तरह उसी में घुमड़ती चली जा रही हूँ। सब कितना मोहक ! कितना कुरूप !

सुबह होते-होते जैसे मेरे कानों में मेरी माँ की पुकार टकरायी थी, "सरला बेटा, तू कहाँ है रे ? जल्दी से आजा मेरे पास।"

अपने उन बीते हुए कष्ट दिनों की याद अब तक मेरे भीतर सुरक्षित है। मेरी माँ सुन्दर नहीं थी, रंग जरूर गोरा था, पर मुँह की बनावट भद्दी थी। छोटी आँखें और आगे के दाँत कुछ बड़े हुए। पिता जी बहुत सुन्दर—बहुत ही आकर्षक। आज भी हैं, तो उन दिनों की बात ही क्या कहनी !

पहले दिन से ही पिता जी ने मेरी माँ को प्यार नहीं किया। बल्कि यूँ कहना चाहिये, प्यार कर नहीं सके और मेरा जन्म इसी संघर्ष का एक संयोग-फल था। कुशल यह हुआ कि मैं पूरी तरह से पिता जी पर पड़ी। पिता जी मुझे बहुत प्यार करते थे। जब मैं बारह वर्ष की हुई तभी मेरी माँ का स्वर्गवास हो गया। मैं आज भी सोचती हूँ, अच्छा ही हुआ जो मेरी माँ मर गयी। एक तो वह अन्त के कई सालों से बीमार रहती थीं, दूसरे पिता जी उससे बोलते न थे। घुटन

और अपमान के वे बादल जो दिन-रात मेरे आगरा वाले उस घर पर छाये रहते थे, वे तो छूँटे। पर नहीं, वे बिल्कुल नहीं छूँटे। सहसा एक दूसरी ही हवा बही और मेरे घर का सारा आसमान और घने बादलों से पट गया।

दूसरे ही साल पिता जी ने एक बहुत ही रूपवती स्त्री से प्रेम-विवाह किया। तब हम लोग आगरे से इलाहाबाद आ गये थे। सिविल लाइन्स में पिता जी ने एक सुन्दर बँगला किराये पर लिया था। मुझे यह दूसरी माँ बहुत ही अच्छी लगती थी किन्तु थोड़े ही दिनों में मैंने अनुभव किया कि यह माँ मुझे कतई नहीं चाहती। सोचा, कोई बात नहीं। यह मुझे न चाहें, पिता जी को तो चाहें। पिता जी अपने उस नये घर में कितने खुश थे, कितने जीवनमय, यही मेरे लिए स्वर्ग था। पर धीरे-धीरे दो ही वर्ष के भीतर न जाने क्या हुआ कि पिता जी फिर पहले की तरह हो गम्भीर दिखने लगे। और एक दिन वह घटना घटी कि क्या कहूँ ! न कोई बात न चीत, न भगड़ा न टपटा। दिसम्बर की एक ठण्डी रात। पिता जी अकेले भोजन कर रहे थे। सहसा हुआ यह कि माता जी ने अनायास ही पिता जी को गालियाँ देनी शुरू कीं। अपने कपड़े फाड़ती हुई वह बँगले से बाहर चली आयीं। गजब की चीख और दहाड़। बड़ी भद्दी-भद्दी गालियाँ और भयानक फतवे।

रात के पिछले पहर में कहीं वह शान्त हुई पर जो कोमल था, सुन्दर था, वह तो कहीं नष्ट हो ही गया। अभाग्य पिता जी ! पिता जी और भी वैरागी हो गये। तीन वर्षों तक लगातार उन्होंने माता जी की ओर से कितना अपमान सहा, कितनी-कितनी उन्होंने यातनाएँ सहीँ, इसकी साक्षी सिर्फ मैं हूँ—सिर्फ अभागी मैं। उसके बाद, ईश्वर ने उन माता जी को हमारे बीच से उठा लिया।

हम लोग बनारस आ गये। हमारे बीच मेरी यह वृद्धा, बहरी बुआ जी आयीं। पिता जी इन बुआ जी को ही चुनकर क्यों अपने उस

सूने घर में ले आये, इसका रहस्य मैं आज तक न जान पायी। न वह ठाक से बोल सकती हैं, न किसी की कुछ सुन सकती हैं। महज एक प्राणिमात्र हैं बुआ जी। किन्तु अब थोड़ा-थोड़ा समझ में आता है और शायद यहो सही भी हो। पिता जी के दिलोदिमाग में शायद एक आदर्श स्त्री अब यही बुआ जी ही हैं।

एक दिन मैंने देखा, वह आदमी न जाने कब से मेरे बँगले के सामने खड़ा है—उसी तरह अनन्त सिगरेटें पीता हुआ। सुबह भी देखा, दोपहर को भी और दस बजे रात को भी। और इस तरह कई दिन देखा मैंने उसे।

इसके आगे भी मैंने और देखा, मैं घर से कहीं भी बाहर जाती वह किसी न किसी तरह जरूर मेरे पीछे हो लेता। मैं घूम-फिरकर उसे देखती, निहारती—मुझे अच्छा लगता। वह मुझे कितना चाहता है! वह जैसे मेरी रक्षा में चारों ओर चक्कर काटता। बस, केवल मुझे यही बुरा लगता, वह आदमी देखने में क्यों इस तरह अपनी शकल बनाये रहता है? निर्लज्ज....गुण्डा....आवारा....! ताज्जुब है, उस दिन वह पिता जी से भी न डरा! गंगाघाट पर आ बैठा था और एकटक मुझे निहारने लगा था।

जब वह मुझे निहारता है तो वह मेरा मनहूस पेड़ सहसा हँस पड़ता है। जब मुझसे उसकी आँखें मिलती हैं तो मेरा वह टूटा पेड़ एकाएक मेरे ऊपर झुक जाता है। उस पर जाकर बैठने वाला वह शिकारी पंछी अपने पंख खोलकर मेरे चारों ओर उड़ने लगता है।

अगस्त के आखिरी दिन थे। कई दिनों से लगातार वर्षा हो रही थी। कई दिन हो गये थे उस आदमी को देखे। कहीं वह बीमार तो नहीं हो गया। क्योंकि जिस दिन यह बारिश शुरू हुई थी, वह भीगता हुआ मेरे घर के सामने आया था और बड़ी देर तक सड़क के उस पार पान वाले की दुकान से भी पीछे हटकर उस मौलश्री के पेड़ के

नीचे खड़ा रहा था।

अगले दिन वह वर्षा खत्म हुई। शाम का वक्त, पर जैसे न जाने कहाँ का, कितना अँधेरा उस शाम के माथे पर जम गया था। मेरे भीतर का वह पेड़ हाहाकार करने लगा, जैसे उस पर प्रलय की आँधी आयी हो। वह पंछी मेरे उस पेड़ पर से उड़कर काले-गहरे-सुनसान आसमान को चीरता हुआ न जाने कितनी दूर उड़ा चला जा रहा था और जैसे मैं उसके पंजे से बँधी किसी अदृश्य लोक में उड़ी चली जा रही थी। किस तरह? क्यों? किसलिए? इसका मुझे कुछ भी पता नहीं, जैसे वह अज्ञान-अज्ञात-अपरिचित आदमी, वैसे ही मैं, वैसे ही मुझे उड़ाकर ले जाने वाला वह पंछी।

मैं तीर की भाँति अपने घर से निकल कर उस आदमी के घर के सामने जा खड़ी हुई। पर वह घर पर न था। किन्तु जैसे मुझे पता था कि वह आदमी कहाँ है। मेरे वृद्ध की वह आँधी मुझे उसी ओर उड़ाती लिये चली जा रही थी।

मैं चौक आयी। वहाँ से सीधे गंगाघाट जाने लगी। और वह आदमी मुझे उसी रास्ते में मिल गया। उसने मेरे कंधे पर हाथ रख दिया। मैं उसके संग गंगाघाट पर आयी। खूब बढ़ी थी गंगा—मुन्दर और भयानक। चारों ओर काली रात घिरी थी।

वह आदमी बेहद चंचल और अशान्त हो रहा था। उसकी उँगुलियों में स्पर्श नहीं, सिर्फ पकड़ की शक्ति उभरी आ रही थी और उस पकड़ में इतना आवेश था कि मैं भय के मारे काँप उठती थी।

रात के समय उस बढ़ी हुई तूफानी गंगा में कोई नाव ले जाने के लिए तैयार नहीं था। वह आदमी बार-बार अपने चारों ओर देखता, फिर उसकी आँखें मेरे मुख पर, तन-बदन पर टिक जातीं। वह पसीने से तर-बतर हो रहा था और उसमें से एक गन्ध फूट रही थी—उब-काई लाने वाली गन्ध। पर मुझ पर तो न जाने कैसा नशा छाता जा रहा था।

वह आदमी मेरी कमर में हाथ डाले घाट से दायीं ओर की ऊँची सीढ़ियों पर मुझे ले जाने लगा। सीढ़ियों के ऊपर एक मन्दिरनुमा सूना मकान था और उससे दायीं ओर एक अन्धी गली थी। वह मुझे उसी गली में ले जाने लगा। सहसा नीचे सीढ़ियों से किसी ने पुकारा, “बेटी ! सरला बेटी ! सुनो, बेटी....”

मैंने मुड़कर देखा—वह पिता जी जैसी शक्ल वाला कोई आदमी है।

मैं रुक गयी। सामने देखा—सच, वह पिता जी ही हैं। “पिता जी....”

मैं मूर्तिवत् खड़ी रह गयी। मेरा सिर पीछे दीवार से सट गया। मुझे लगा, मैं चेतना शून्य हो जाऊँगी। मैंने बढ़कर उस खामोश खड़े आदमी के दोनों हाथ पकड़ लिये और उसी के सहारे खड़ी रह सकी !

मेरी सारी चेतना लौट आयी थी। मैंने देखा, पिता जी बड़े संयम से मेरा हाथ उस आदमी से छुड़ाकर अपने हाथ में ले रहे थे।

बड़ा ही ठण्डा हाथ था वह पिता जी का ! बेहद ठण्डा ! मैंने जान लिया, पिता जी अब क्या करेंगे ! और सही भी था। मैं अपनी एक-एक साँस के साथ उस कठोर, पर सत्य न्याय के लिए अपने आपको तैयार करने लगी।

मैं मृत्युवत् चुप थी। पिता जी मेरा हाथ पकड़े मुझसे बात करते जा रहे थे। न जाने कहाँ-कहाँ की बात ! न जाने कैसी-कैसी बात ! जैसे मैं कोई छः-सात वर्ष की बच्ची हूँ और पिता जी मुझसे किस्से-कहानी, मिठाई-खिलौने और खेल-कूद की बातें करते चल रहे हैं।

घर पहुँचते-पहुँचते फिर रिमरिम वर्षा शुरू हो गयी। महराजिन भोजन बनाकर चली गयी थी। नौकर जग रहे थे। पिता जी सीधे मुझे अपने कमरे में ले आये। मैं मूर्तिवत् कुरसी पर बैठ गयी। पिता जी ने मुझे अपने हाथ से एक गिलास जल पिलाया। फिर मेरा हाथ मुँह धोया। मुझे चौके में ले गये। मुझे पीढ़े पर बिठाया। हँस-हँसकर अपने हाथ से

आटा गूँधा फिर ताजी रोटियाँ सेंकने लगे। रोटि कैसे बनती है, सब्जी किस तरह बनायी जाती है—सब बनाकर मुझे दिखाते रहे। फिर थाली में खाना परोस कर मुझे खिलाने चले। तब मैं हाहाकार करके रो पड़ी। मुझे अपने अंक में चिपका कर वह अपने कमरे में ले आये। मैंने देखा, पिता जी के ओठों पर हँसी फूट रही थी और उनकी आँखों से आँसू भर रहे थे।

बहुत रात बीत गयी थी। बारिश भी रुक गयी थी। मुझे अपने अंक में लिये पिता जी पलंग पर सो गये थे। मैं आँख बन्द किये जाग रही थी।

सुबह हो रही थी। म पलंग पर बैठी थी और देख रही थी—पिता जी गहरी नींद में सो रहे हैं और उनकी बन्द आँखों से आँसू बह रहे हैं। मुझे लगा, पिता जी शिशु हैं और मैं उनकी माँ हूँ। और दूसरे क्षण मुझे लगा, पिता जी मेरी माँ हैं और मैं उनकी दुधमुँही बच्ची हूँ। फिर मैं उनके अंक में अपना सिर गड़ाकर सोने लगी। रह-रहकर मेरे माथे पर उनकी आँखों से एक-एक बूँद जल गिरता और मैं सिहर उठती।

अगले दिन मैंने देखा—उस टूट पेड़ में फूल, पत्ते—सब एक ही संग फूट पड़े। वह शोभा, सुगन्धि-भार से झुक गया। उस पर कितनी सारी रंग-बिरंगी तितलियाँ, कितनी-कितनी खूबसूरत चिड़ियों का झुण्ड गाने लगा।

● ● ●

